उपक्रमणिका

मूलरूप में मैंने 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' को इसी बृहद् आकार में लिखा था। परन्तु प्रकाशन के समय मूल पाण्डुलिपि को चार सौ से भी कम पृष्ठों तक सीमित करना पड़ा, जिससे श्रीमद्भगवद्गीता के अधिकांश मूल श्लोकों की व्याख्या उस संस्करण में नहीं आ सकी। 'श्रीमद्भागवत', 'श्रीईशोपनिषद्', 'श्रीचैतन्य चरितामृत' आदि मेरे अन्य सभी ग्रन्थों में मूल श्लोकों के साथ उनका अन्वय, अनुवाद तथा विशद व्याख्या रहती है। इस विधि से ग्रन्थ बड़ा प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण बन जाता है तथा अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः अपनी मूल पाण्डुलिपि की काट-छाँट से मैं प्रसन्न नहीं था। बाद में, 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' की लोकप्रियता बहुत बढ़ जाने पर विद्वानों और भक्तों ने आग्रह किया कि मैं ग्रन्थ को उसके मूल बृहद् रूप में प्रस्तुत करूँ तथा मैकमिलन एण्ड कं० सम्पूर्ण संस्करण के प्रकाशन के लिए सहमत हो गए। अतएव इस महान् ज्ञान-शास्त्र की पूरी 'परम्परा व्याख्या' को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे कृष्णभावनामृत आन्दोलन उत्तरोत्तर अधिक दृढ़ आधार पर स्थापित हो।

हमारा 'कृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रामाणिक, ऐतिहासिक दृष्टि से अधिकृत, स्वाभाविक तथा दिव्य है, क्योंकि इसका आधार श्रीमद्भगवद्गीता है। यह शनै-शनैः सम्पूर्ण विश्व में, विशेष रूप से, तरुणवर्ग में सबसे अधिक लोकप्रिय आन्दोलन का स्थान पाता जा रहा है। यही नहीं, प्रौढ़ वर्ग भी अब इसमें रुचि लेने लगा है। यहाँ तक कि मेरे शिष्यों के पिता, पितामह, आदि हमारे महान् संघ—अंतर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के आजीवन सदस्य बनकर हमें प्रोत्साहित कर रहे हैं। जब मैं लॉस एंजिलिस में था तो बहुत से माता-पिता संपूर्ण विश्व में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का संचालन करने के लिए मुझे धन्यवाद देने आते थे। उनमें से कुछ का उद्‌गार था कि यह अमरीकी जनता का सौभाग्य है कि मैंने कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रवर्तन अमरीका में किया। परन्तु वास्तव में इस आन्दोलन के आदि-पिता भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं हैं। उनसे अतीत काल में प्रारम्भ हुआ यह आन्दोलन शिष्य-परपरा के द्वारा मानव-समाज में चला आ रहा है। यदि इस सम्बन्ध में मुझे कुछ सफलता मिली है, तो उसका श्रेय स्वयं मुझको नहीं, वरन् मेरे शाश्वत् गुरु, कृष्णकृपाविग्रह ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य १०८ श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज प्रभुपाद को है।

इस सन्दर्भ में यदि मुझको कुछ श्रेय है, तो बस इतना ही कि मैंने श्रीमद्भगवद्गीता को विकृत किए बिना, यथार्थ रूप में (यथारूप— As it is) प्रस्तुत किया है। इस 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' संस्करण से पूर्व गीता के जितने भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उनमें से प्राय: सभी किसी न किसी की स्वार्थ-पूर्ति के लिए लक्षित थे। परन्तु 'श्रीमद्भगवद्गीता' को प्रकाशित करने में हमारा एकमात्र लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण के संदेश को प्रस्तुत करना है। हमारा काम श्रीकृष्ण की इच्छा को प्रकट करना है, यह राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि लौकिक विद्वानों की मनोधर्मी के समान नहीं है क्योंकि नाना प्रकार के ज्ञान से युक्त होने पर भी उनमें श्रीकृष्ण के ज्ञान का प्राय: अभाव ही रहता है। जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि, **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजि मां नमस्कुरु**, इत्यादि तो ये नाममात्र के विद्वान् कहते हैं कि श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरात्मा में भेद है। परन्तु हम ऐसा नहीं कहते। श्रीकृष्ण अद्वय-तत्त्व हैं, उनके नाम, रूप, दिव्य गुण, लीला आदि में कोई भेद नहीं है। जो मनुष्य परम्परा के अनुसार कृष्णभक्त नहीं है, उसके लिए श्रीकृष्ण के इस अद्वय-तत्त्व को ज्ञान पाना कठिन होगा। सामान्यत: देखा गया है कि नामधारी विद्वान्, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा स्वामी आदि जो श्रीकृष्ण के पूर्ण तत्त्वज्ञान से रहित हैं, भगवद्गीता पर भाष्य रचना करने के रूप में श्रीकृष्ण के अस्तित्व को ही समाप्त कर देने का प्रयत्न करते हैं। भगवद्गीता के ऐसे अप्रामाणिक भाष्यों को मायावादी भाष्य कहा जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हमें इन अप्रामाणिक व्याख्याकारों से सचेत किया है। उनकी वाणी है कि जो कोई भी गीता को मायावादी मत के अनुसार समझने का प्रयत्न करेगा, वह महान् अपराध कर बैठेगा। गीता का ऐसा भ्रान्त विद्यार्थी परमार्थ के पथ में निश्चित रूप से मोहित हो जाता है और अपने घर—भगवद्धाम को नहीं जा पाता।

हमारा एकमात्र प्रयोजन श्रीमद्भगवद्गीता को यथारूप (As it is) प्रस्तुत करना है, जिससे बद्ध जीव का उसी लक्ष्य की ओर मार्गदर्शन हो सके, जिसके लिए ब्रह्मा के प्रत्येक दिन में, अर्थात् ८,६०,००,००,००० वर्षों के कल्प में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अवतरित होते है। इस प्रयोजन का गीता में उल्लेख है और हमें इसे उसी रूप में (यथारूप) ग्रहण करना है। अन्यथा, भगवद्गीता और उसके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानने के लिए साधन करना व्यर्थ होगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता सर्वप्रथम सूर्यदेव को करोड़ों वर्ष पूर्व सुनाई थी। इस सत्य को स्वीकार कर तथा श्रीकृष्ण के प्रमाण के आधार पर अर्थ का अनर्थ किए बिना गीता के ऐतिहासिक माहात्म्य को समझ लेना चाहिए। श्रीकृष्ण की इच्छा के विरुद्ध गीता का अर्थ करना महान् अपराध है। इससे अपनी रक्षा के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, जैसा उनके प्रथम शिष्य अर्जुन ने स्वयं उनसे जाना था। गीता का ऐसा ज्ञान ही यथार्थ में मानव समाज के कल्याण-कार्य के लिए श्रेयस्कर तथा प्रामाणिक है, मानव जीवन की सार्थकता वस्तुत: इसी में है।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन जीवन की परम संसिद्धि प्राप्त कराता है, इसलिए यह

मानव समाज के लिए अनिवार्य है। भगवद्गीता में इस विषय का सम्पूर्ण वर्णन है। दुर्भाग्यवश, प्रापञ्चिक वाग्चातुरी करने वाले मूढ़ गीता की आड़ में अपनी आसुरी प्रवृत्ति को ही उभारते हैं, जिससे अबोध जनता जीवन के सामान्य नियमों के यथार्थ ज्ञान से भ्रष्ट हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य के लिए भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा और जीव के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। उसे यह बोध होना चाहिए कि जीव स्वरूपत नित्य दास है, अत यदि वह श्रीकृष्ण की सेवा नहीं करेगा तो नाना रूपों में त्रिगुणमयी माया की सेवा करनी पड़ेगी, जिससे जन्म-मृत्यु का चक्र बना रहेगा। यहाँ तक कि अपने को मुक्त समझनेवाला मायावादी ज्ञानी भी वास्तव में इस आवागमन से नहीं छूट पाता। अस्तु, श्रीभगवान् की महिमा और जीव के स्वरूप का यह ज्ञान परमोच्च विज्ञान है तथा इसका श्रवण करना जीव के अपने हित में है।

इस कलियुग में लोग सामान्य रूप से श्रीकृष्ण की बहिरंगा मायाशक्ति से मोहित रहते हैं और भ्रमवश समझते हैं कि भौतिक सुख-सुविधा की उन्नति से वे सुखी हो जायेंगे। वे नहीं जानते कि माया बड़ी बलवान् है, जीवमात्र उसके दुस्तर नियमों में बँधा हुआ है। जीव का सुख श्रीभगवान् के भिन्न-अंश के रूप में ही है। उसका स्वरूपधर्म यही है कि बिना विलम्ब श्रीभगवान् की सेवा के परायण हो जाय। माया के वशीभूत हुआ जीव नाना प्रकार से अपनी इन्द्रियों को तृप्त करके सुखी होने का प्रयत्न करता है, परन्तु वास्तव में इस प्रकार वह कभी सुखी नहीं हो सकता। अपनी प्राकृत इन्द्रियों को तृप्त करने के स्थान पर श्रीभगवान् की इन्द्रियों को तृप्त करना चाहिए। यही जीवन की परमोच्च सफलता है। श्रीभगवान् ऐसा आग्रहपूर्वक चाहते हैं। मानव को श्रीमद्भगवद्गीता के इस केन्द्रबिन्दु को भलीभाँति समझना है। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सम्पूर्ण विश्व को इसी केन्द्रबिन्दु की शिक्षा दे रहा है। हम भगवद्गीता की आत्मा को दूषित नहीं करते, इसलिए जो कोई भगवद्गीता के अध्ययन से यथार्थ श्रेय-प्राप्ति का अभिलाषी हो, वह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन में गीता का आचरणीय ज्ञान पाने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन का आश्रय अवश्य ले। हमें आशा है कि हमारे द्वारा प्रस्तुत 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' का अध्ययन करने से जनता का परम कल्याण होगा। इससे यदि एक भी मनुष्य शुद्ध भगवद्भक्त बना, तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे।

ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी

१२ मई, १९५०
सिडनी, आस्ट्रेलिया

अन्तर्दर्शन

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।
श्रीचैतन्यमनोऽभीष्ट स्थापितं येन भूतले ।
स्वय रूप. कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम् ।।

मेरा जन्म अज्ञान रूपी अन्धकार में हुआ था, परन्तु करुणानिधान गुरुदेव ने ज्ञान-प्रकाश द्वारा मेरे नेत्रों को खोल दिया। मैं उनकी सादर वन्दना करता हूँ।

श्रीचैतन्य महाप्रभु की आकाँक्षा-पूर्ति के लिए जिन्होंने ससार में हरे कृष्ण आन्दोलन को स्थापित किया है, वे श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद अपने चरणारविन्द का आश्रय मुझे कब प्रदान करेंगे?

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च ।
श्रीरूपं साग्रजातं सहगणरघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।।

साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं कृष्णचैतन्यदेवं।
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगणललिताश्रीविशाखान्वितांश्च।।

मैं अपने गुरुदेव तथा सम्पूर्ण वैष्णववृन्द के पादपद्मों की आदरसहित वन्दना करता हूँ। श्रील रूप गोस्वामी, उनके अग्रज सनातन गोस्वामी, और रघुनाथ दास, रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट तथा जीव गोस्वामी की भी सादर वन्दना करता हूँ, सविनय श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु तथा अद्वैतआचार्य, गदाधर, श्रीवासादि पार्षदों की वन्दना करता हूँ और अंत में श्रीललिता, श्रीविशाखा आदि सखियों के सहित श्री श्रीराधाकृष्ण की वन्दना करता हूँ।

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते।।

हे कृष्ण! हे करुणासिन्धु! हे दीनबन्धु! हे जगत्पति! हे गोपेश! हे गोपिकाकान्त! हे राधाकान्त! मैं आपको सादर प्रणाम करता हूँ।

तप्तकाञ्चन गौरांगी राधे वृन्दावनेश्वरी।
वृषभानुसुते देवी प्रणमामि हरिप्रिये।।

तप्तकाञ्चन सुवर्णा वृन्दावनेश्वरी वृषभानुनन्दिनी कृष्णप्रिया श्रीमती राधारानी को सादर प्रणाम करता हूँ।

वाञ्छा कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः।।

श्रीभगवान् के वैष्णव भक्तों की वन्दना करता हूँ, जो सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने में कल्पतरु के समान समर्थ है तथा पतित जीवों के लिए अहैतुकी कृपा से ओतप्रोत है।

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द।
श्री अद्वैत गदाधर श्रीवासादि गौर भक्तवृन्द।।

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु, प्रभु नित्यानन्द, श्रीअद्वैत, गदाधर, श्रीवास तथा अन्य सभी भक्तों की मैं सादर वन्दना करता हूँ।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।

श्रीमद्भगवद्गीता को 'गीतोपनिषद्' भी कहा जाता है। यह सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की सर्वप्रधान उपनिषद् है, वस्तुत वैदिक ज्ञान का सार-सर्वस्व ही है। गीता पर अनेक भाष्य उपलब्ध हैं। अतएव पाठक के हृदय में इस नवीन संस्करण के प्रयोजन-विषयक जिज्ञासा का उदय होना स्वाभाविक होगा। इस वर्तमान संस्करण का अभिप्राय इस प्रकार समझाया जा सकता है। कुछ दिन हुए एक सज्जन ने मुझ से आग्रह किया कि मैं भगवद्गीता के किसी अनुवाद का परामर्श दूँ। निस्सन्देह भगवद्गीता के अनेक सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, पर जहाँ तक मेरा अनुभव है, उनमें से किसी को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्राय किसी भी भाष्यकार ने भगवद्गीता की आत्मा को यथार्थ रूप में (यथारूप) प्रस्तुत नहीं किया है, वरन् सबने उस पर अपना निजी मत आरोपित किया है।

भगवद्गीता की आत्मा का निरूपण भगवद्गीता में ही है। वह इस प्रकार है किसी विशेष औषधी का सेवन उस पर लिखित आदेश के अनुसार ही किया जाता है। हम स्वेच्छा से अथवा मित्र के परामर्श पर उसे नहीं ले सकते। उस पर लिखी विधि अथवा चिकित्सक के निर्देशानुसार ही औषधी का सेवन करना होगा। इसी भाँति, भगवद्गीता को उसी प्रकार ग्रहण करना है, जैसा कि स्वय गीतागायक ने उसका प्रवचन किया है। भगवद्गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण है। उन्हें भगवद्गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर भगवान् कहा गया है। निस्संदेह 'भगवान्' शब्द कभी-कभी शक्तिशाली महापुरुष अथवा देवता के लिए भी प्रयुक्त होता है। गीता में 'भगवान् शब्द श्रीकृष्ण को महापुरुष तो घोषित करता ही है, परन्तु साथ में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् (आदिपुरुष) हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य मध्वाचार्य, निम्बार्क स्वामी, श्री चैतन्य महाप्रभु तथा वैदिक ज्ञान के अन्य सभी आचार्यों ने इस सत्य को प्रमाणित किया है। श्रीकृष्ण ने भी गीता में अपने को परात्पर परमेश्वर, परब्रह्म भगवान् घोषित किया है। ब्रह्मसंहिता तथा सभी पुराणों ने, विशेषत श्रीमद्भागवत ने उनकी परात्परता को एक स्वर 'से' स्वीकार किया है—**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**। अतएव हम भगवद्गीता को उसी रूप में ग्रहण करें जिस रूप में श्रीभगवान् ने उसे कहा है।

गीता के चौथे अध्याय मे श्रीभगवान् ने कहा है—

> **इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।**
> **विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत।।**
> **एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः।**
> **स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।**
> **स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।**
> **भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।**

श्रीभगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि इस योगपद्धति अर्थात् भगवद्गीता का प्रवचन उन्होंने सर्वप्रथम सूर्यदेव को किया। सूर्यदेव ने इसे मनु को सुनाया और

मनु ने इक्ष्वाकु को प्रदान किया। इस प्रकार शिष्यपरम्परा के अनुगामी आचार्यों के द्वारा यह 'योग' मानवसमाज में चला आता रहा। कालान्तर में, उस शिष्यपरम्परा के विशृंखलित हो जाने पर यह लुप्तप्राय हो गया। अतः श्रीभगवान् इसका पुनः प्रवचन कर रहे हैं और इस बार उनका श्रोता है, कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में स्थित हुआ अर्जुन।

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि वे इस परम रहस्य को उसे इसीलिए सुना रहे हैं, क्योंकि वह उनका प्रिय भक्त एवं सखा है। तात्पर्य यह है कि भगवद्गीता रूपी दर्शन विशेष रूप से भगवद्भक्त के लिए कहा गया है। साधकों की ज्ञानी, योगी तथा भक्त —ये तीन कोटियाँ हैं। यहाँ श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा है कि गीता की पुरातन परम्परा विशृंखलित हो गयी है, अतएव वे उसे नूतन परम्परा का प्रथम श्रोता बना रहे हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् ऐसी नवीन परम्परा को स्थापित करना चाहते हैं, जो सूर्यदेव से चली आ रही विचारधारा की अनुगामिनी हो। उनकी इच्छा है कि अर्जुन उनकी शिक्षा का पुनः प्रसार-प्रचार करे, अर्थात् भगवद्गीता-ज्ञान का अधिकृत आचार्य बन जाय। अस्तु, हम देखते हैं कि भगवद्गीता का उपदेश विशेष रूप से अर्जुन के लिए किया गया है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण का परम भक्त, आज्ञाकारी शिष्य तथा अन्तरंग सखा है। प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है कि वही मनुष्य गीता को उत्तम प्रकार से हृदयंगम कर सकता है, जो अर्जुन के समान गुणों से युक्त हो, अर्थात् भगवद्भक्त हो और जिसका श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध भी हो। भक्ति का उदय होते ही श्रीभगवान् से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध अपने-आप स्थापित हो जाता है। यह अति विशद तत्त्व है, किन्तु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भक्त और भगवान् में पाँच रसों में से किसी एक में सम्बन्ध रहता है। ये पाँच रस हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य।

अर्जुन और श्रीभगवान् में सखाभाव है। अवश्य ही, इस सख्यभाव और सांसारिक मित्रता में आकाश-पाताल का अन्तर है। यह एक ऐसी दिव्य मित्रता है, जिसकी प्राप्ति सब को नहीं हो सकती। यह सत्य है कि प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से एक विशिष्ट सम्बन्ध है, जो भक्ति की संसिद्धि होने पर जागृत हो जाता है। परन्तु साथ ही, यह भी सत्य है कि जीवन की वर्तमान अवस्था में श्रीभगवान् की ही नहीं, वरन् उनसे अपने नित्य सम्बन्ध की भी हमें विस्मृति हो गई है। कोटि-कोटि जीवों में से प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से नित्य विशिष्ट सम्बन्ध है। इसे 'स्वरूप' कहा जाता है। भक्तियोग के द्वारा इस स्वरूप को पुनः जागृत किया जा सकता है। यही अवस्था 'स्वरूपसिद्धि' कहलाती है। अस्तु, अर्जुन भक्त है और सख्यभाव में श्रीभगवान् से उसका नित्य सम्बन्ध भी है।

अर्जुन ने भगवद्गीता को किस प्रकार धारण किया, यह ध्यान देने योग्य है। इसका उल्लेख दसवें अध्याय में है:

> अर्जुन उवाच।
> परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
> पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।

अर्जुन ने कहा, "प्रभो ! आप परमब्रह्म, परमधाम, पावन परम सत्य और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं। नारद, असित, देवल, व्यास आदि सारे ऋषि आप का इसी प्रकार गुणगान करते हैं और अब आप स्वयं भी मेरे प्रति इस तत्त्व का वर्णन कर रहे हैं। हे कृष्ण! आपने जो कुछ भी कहा है, इसे मैं सम्पूर्ण रूप से सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके स्वरूप को न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं। (गीता १०।१२-१४)

भगवान् श्रीकृष्ण से भगवद्गीता का श्रवण करके अर्जुन ने उन्हें परम्ब्रह्म स्वीकार किया है। जीव ब्रह्म है और श्रीभगवान् परमब्रह्म हैं। परम्धाम का अर्थ है कि वे सम्पूर्ण जगत् के परम आश्रय हैं; पवित्रम्: सांसारिक उपाधियों से मुक्त हैं; पुरुषम्: सबके परम-भोक्ता हैं; दिव्यम्: लोकोत्तर हैं; आदिदेवम्: स्वयं भगवान् हैं; अजम्: अजन्मा है; विभुम्: सर्वव्यापी परात्पर हैं।

कोई कह सकता है कि अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यह सब चाटुकारी के रूप में कहा, क्योंकि वे उसके सखा थे। अतः भगवद्गीता के पाठकों के हृदय से इस संशय को निर्मूल करने के लिये अर्जुन ने इस स्तुति को प्रमाणित करते हुए अगले ही श्लोक में कह दिया कि केवल वह श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् मानता हो—ऐसा नहीं। अपितु, नारद, असित, देवल, व्यासदेव आदि सब प्रामाणिक ऋषियों का भी यही मन्तव्य है। इन महापुरुषों का मत सर्वमान्य है, क्योंकि ये उस वैदिक ज्ञान को प्रसारित करते हैं, जो सब आचार्यों द्वारा सम्मत है। इस आधार पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह उसे पूर्ण रूप से सत्य मानता है। सर्वमेतदृतं मन्ये. 'आप जो कुछ भी कहते हैं, मैं उसे सत्य मानता हूँ।' अर्जुन ने यह भी कहा कि श्रीभगवान् का स्वरूप परम दुर्बोध है, बड़े से बड़ा देवता तक उन्हें जानने में समर्थ नहीं है। जब मनुष्य से श्रेष्ठ प्राणी तक उन्हें नहीं जान सकते, फिर वह मनुष्य श्रीकृष्ण को किस प्रकार जान सकेगा, जो उनका भक्त न हो?

भाव यह है कि भगवद्गीता को भक्तिभाव से ही ग्रहण करना है। श्रीकृष्ण को अपने समान अथवा साधारण मनुष्य मानना तो दूर, केवल महापुरुष भी नहीं समझना चाहिए। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं—भगवद्गीता में आए श्रीभगवान् के वचनों से तथा गीता के जिज्ञासु अर्जुन के वचनों से यह सत्य कम-से-कम सिद्धान्त रूप में तो सिद्ध होता ही है। अतएव हम भी श्रीकृष्ण को सिद्धान्त रूप में तो भगवान् स्वीकार कर ही लें। इस दैन्यभाव से हमें भगवद्गीता का बोध हो जायगा। इसके बिना भगवद्गीता का अध्ययन करने पर भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यह परम रहस्यमय (मर्म का विषय) है।

भगवद्गीता वस्तुतः क्या है? अज्ञानरूप भव-सागर से सम्पूर्ण मानवता का उद्धार करना ही भगवद्गीता का प्रयोजन है। सब मनुष्य नाना प्रकार से कष्ट भोग रहे हैं। अर्जुन भी कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में मनोव्यथा को प्राप्त हो रहा था। किन्तु वह श्रीकृष्ण के शरणागत हो गया, जिससे इस भगवद्गीता शास्त्र का प्रवचन हुआ। अर्जुन की भाँति हम सब भी इस भव-सागर में सदा उद्विग्नता से पूर्ण रहते हैं। यहाँ तो हमारी सत्ता ही असत् परिस्थिति में उपाधिबद्ध हो गई है। वास्तव में हमारा अस्तित्व नित्य है। किन्तु जिस किसी कारणवश हमें 'असत्' में डाल दिया गया है। जो वस्तुतः नहीं है, उसे ही 'असत्' कहते हैं।

इस प्रकार दुःख भोगते हुए कोटि-कोटि मनुष्यों में कुछ इने-गिने विवेकी ही यह जिज्ञासा करते हैं कि हम कौन हैं? किस कारण से हम इस प्रकार दुःख भोग रहे हैं? इत्यादि। जब तक दुःख के कारण की जिज्ञासा नहीं होती, जब तक यह अनुभूति नहीं होती कि वास्तव में वह (जीव) दुःख भोगना कभी नहीं चाहता, अपितु सम्पूर्ण दुःखों से सदा के लिये मुक्ति ही चाहता है, तब तक तो उसे यथार्थ में मनुष्य ही नहीं कहा जा सकता। चित्त में यह जिज्ञासा उठने पर मानवजीवन का प्रारम्भ होता है। 'ब्रह्मसूत्र' में इसे 'ब्रह्मजिज्ञासा' कहा है। जब तक मनुष्य भगवत्-तत्त्व की जिज्ञासा नहीं करता, तब तक उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ व्यर्थ हैं। अतः जिनके हृदय में इस जिज्ञासा का उद्भाव हो चुका है कि हम दुःख किस कारण से भोगते हैं? हम कहाँ से आये हैं और मृत्यु के बाद कहाँ जायेंगे?—वे ही भगवद्गीता की शिक्षा के यथार्थ अधिकारी हैं। यथार्थ शिष्य में श्रीभगवान् के प्रति सुदृढ़ आदरभाव का होना आवश्यक है। अर्जुन ठीक इसी कोटि का शिष्य है।

जब-जब मनुष्य को जीवन के यथार्थ लक्ष्य की विस्मृति हो जाती है, तो भगवान् श्रीकृष्ण उसकी स्थापना के लिए विशेष रूप से अवतार ग्रहण करते हैं। इस प्रकार जागृत हुए अनेक-अनेक मनुष्यो मे से भी कोई एक ही स्वरूपज्ञान के रहस्य में यथार्थ रूप में प्रवेश कर पाता है। उसी के लिए इस भगवद्गीता का गान किया गया है, क्योंकि वही गीता-ज्ञान का यथार्थ अधिकारी है। अज्ञान-रूपी सिंह वस्तुतः हम सभी के पीछे लगा हुआ है। किन्तु श्रीभगवान् जीवों पर, विशेषतः मनुष्यों पर बड़े कृपामय हैं। इसी कृपा से प्रेरित हुए उन पुरुषोत्तम ने सखा अर्जुन को अपना शिष्य बनाकर भगवद्गीता का गान किया है।

श्रीकृष्ण का नित्य सहचर होने के कारण अर्जुन अज्ञान से पूर्ण रूप में मुक्त था। परन्तु कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में वह उनसे अज्ञानी की भाँति जीवन के दुःखों के विषय में प्रश्न करने लगा, जिससे श्रीकृष्ण आगे होने वाले मनुष्यों के लाभ के लिए उनका समाधान करें तथा यथार्थ जीवन का दिग्दर्शन करायें। श्रीभगवान् के आज्ञानुसार कर्म करने से ही मानवजीवन कृतार्थ हो सकता है।

श्रीभगवद्गीता-ज्ञान में पाँच मूल तत्त्वों का समावेश है। सर्वप्रथम भगवत्-तत्त्व का और दूसरे जीवों के स्वरूप का प्रतिपादन है। ईश्वर सब का नियंता है, जबकि

जीव उसके द्वारा नियन्त्रित हैं। पराधीन होते हुए भी जो जीव अपने को स्वतन्त्र कहता है, वह अवश्य उन्मत्त है। कम से कम बद्धावस्था में तो जीव प्रत्यक्ष रूप से सर्वथा परतन्त्र ही है। अतएव भगवद्गीता में दोनों, ईश्वर-तत्त्व का और जीव-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। साथ में, प्रकृति, काल और कर्म का भी इसमें विवेचन है। ब्रह्माण्डीय सृष्टि नाना प्रकार की क्रियाओं से परिपूर्ण है। जीव भाँतिभाँति के कर्म कर रहे हैं। भगवद्गीता से हमें जानना है कि ईश्वर-तत्त्व क्या है? जीव-तत्त्व क्या है? प्रकृति क्या है? ब्रह्माण्डीय सृष्टि क्या है और किस प्रकार काल द्वारा नियन्त्रित है? तथा जीवों के कर्मों का स्वरूप क्या है?

भगवद्गीता में स्थापित किया गया है कि पाँच प्रतिपाद्य तत्त्वों में भगवान् श्रीकृष्ण अथवा परमब्रह्म अथवा परमेश्वर अथवा परमात्मा सर्वप्रधान हैं। यह सत्य है कि परमेश्वर और जीव समान चिद्गुणों वाले हैं। उदाहरणार्थ जैसा गीता के अनुवर्ती अध्यायों में कहा गया है, श्रीभगवान् संसार, प्रकृति आदि के नियन्ता हैं। प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है; वह श्रीभगवान् के नियन्त्रण में क्रिया करती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है, 'प्रकृति मेरी ही अध्यक्षता में कार्य करती है।' अपरा प्रकृति में अद्भुत घटनाओं को घटित होते देखकर हमें यह समझ लेना चाहिए कि इस सब के पीछे एक ईश्वर (नियन्ता) अवश्य है। कोई भी वस्तु बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं हो सकती। अत. नियन्ता को भुला देना बालोचित प्रमाद ही होगा। किसी पशु-बल के बिना चलने वाला स्वचालित यन्त्र एक शिशु के लिये विस्मयकारी हो सकता है, पर बुद्धिमान् उसकी संरचना को जानता है कि वाहन के पीछे एक मनुष्य चालक का हाथ है। इसी प्रकार श्रीभगवान् एक ऐसे चालक हैं जिनके निर्देश में सब कार्य कर रहे हैं। गीता में श्रीभगवान् ने जीव को अपना अंश कहा है। स्वर्ण का एक कण भी स्वर्ण ही है और सागर का एक बूंद जल भी खारा होता है। इस न्याय के अनुसार, परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हम जीवों में भी उनके समान गुण हैं, किन्तु हममें इन गुणों का अति अल्प अंश ही विद्यमान है, क्योंकि हम लघु ईश्वर हैं। हम प्रकृति पर प्रभुत्व के लिए प्रयत्नशील हैं, जैसे वर्तमान में अन्तरिक्ष तथा ग्रहों पर आधिपत्य करने का प्रयास चल रहा है। यह प्रवृत्ति मूल रूप से श्रीकृष्ण में है और इसीलिए हममें भी है। माया पर प्रभुत्व करने की इस प्रवृत्ति के होते हुए भी हम यह जान लें कि हम परमेश्वर नहीं हैं। भगवद्गीता यही सिखाती है।

भौतिक प्रकृति क्या है? भगवद्गीता में इसे 'अपरा' प्रकृति कहा गया है। जीवतत्त्व 'परा प्रकृति' है। प्रकृति परा हो अथवा अपरा, वह नित्य परमेश्वर के आधीन है। 'प्रकृति' स्त्रीलिंग है तथा श्रीभगवान् के द्वारा उसी भाँति नियन्त्रित है, जैसे पत्नी की क्रियाओं का पति नियन्ता होता है। प्रकृति नित्य श्रीभगवान् के आधीन रहती है, जो उसके अध्यक्ष हैं। इस प्रकार परा (जीव) तथा अपरा, दोनों ही प्रकृतियाँ श्रीभगवान् के आधीन हैं। गीता के अनुसार श्रीभगवान् के भिन्न-अंश होते हुए भी जीव 'प्रकृति' की कोटि में आते हैं। सातवें अध्याय के श्लोक पाँच में स्पष्ट उल्लेख

है—अपरेयमितस्त्वन्यां—'यह मेरी अपरा प्रकृति है।' प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। 'इससे परे मेरी एक अन्य जीवरूपा प्रकृति भी है।'

प्रकृति 'सत्त्व, रज और तम'—इन तीन गुणों से रचित है। इन त्रिविध गुणों से परे शाश्वत् कालतत्त्व है, जिसके नियन्त्रण और अध्यक्षता में गुणों के संघटन से कर्म की अभिव्यक्ति होती है। कर्म अनादिकाल से किया जा रहा है और हम सभी अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोग रहे हैं। उदाहरणार्थ जो मनुष्य अथक परिश्रम और बुद्धिमत्ता से धन-संचय कर लेता है, वह सुख भोगता है, जबकि सम्पूर्ण धन खो बैठने वाला दुःख उठाता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम इसी भाँति अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। इस का नाम 'कर्मतत्त्व' है।

ईश्वर, जीव, प्रकृति, शाश्वत् काल तथा कर्म—इन सब तत्त्वों का गीता में विशद विवेचन हुआ है। इनमें से ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल नित्य हैं। प्रकृति की अभिव्यक्ति अस्थायी हो सकती है, परन्तु वह मिथ्या नहीं है। कतिपय दार्शनिकों का कथन है कि प्रकृति की अभिव्यक्ति मिथ्या है; पर भगवद्गीता का अथवा वैष्णवों का दर्शन ऐसा नहीं मानता। संसार की अभिव्यक्ति को मिथ्या नहीं माना जाता। वह सत्य अवश्य है, किन्तु साथ ही अस्थायी भी। इसकी तुलना आकाशगामी मेघ अथवा अन्न-पोषिका वर्षा ऋतु से की जाती है। जैसे ही वर्षा ऋतु व्यतीत हो जाती है अथवा मेघ चले जाते हैं, वर्षा से पोषित हुआ धान्य पुनः सूख जाता है। इसी प्रकार यह प्राकृत सृष्टि यथासमय प्रकट होती है, कुछ काल तक विद्यमान रहती है और समय होने पर पुनः विलुप्त हो जाती है। प्रकृति का कार्य ऐसा ही है। परन्तु यह चक्र नित्य भ्रमायमान् है। अतः प्रकृति को नित्य कहा है, मिथ्या नहीं। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है, ''यह मेरी प्रकृति है।'' यह अपरा प्रकृति श्रीभगवान् की भिन्ना शक्ति है। जीव भी श्रीभगवान् की शक्ति हैं; किन्तु वे अलग नहीं हैं, श्रीभगवान् से उनका नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार परमेश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल—इन सब नित्य तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध है। पाँचवाँ तत्त्व—कर्म नित्य नहीं है। कर्मफल वस्तुतः अति पुरातन हो सकता है। हम अनादि काल से अपने शुभ-अशुभ कर्मफलों को भोग रहे हैं, पर हममें उस को बदलने की सामर्थ्य भी है। यह हमारे ज्ञान की पूर्णता पर निर्भर करता है। हम विविध कर्म कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन सम्पूर्ण क्रियाओं के शुभ-अशुभ फल से मुक्ति के लिए किस प्रकार की क्रिया करनी है, इसका ज्ञान हमें नहीं है। 'भगवद्गीता' में इसका भी वर्णन है।

परमेश्वर परम चेतन हैं और उनके भिन्न-अंश होने के कारण जीव भी चेतन है। यद्यपि जीव और माया दोनों को प्रकृति (भगवत्-शक्ति) कहा गया है, पर इनमें से केवल जीव चेतन है, अपरा प्रकृति चेतन नहीं। दोनों में यही भेद है। अतएव 'जीव प्रकृति' को 'परा' कहा जाता है। कहने का भाव यह है कि जीव श्रीभगवान् के सदृश चेतन है। ऐसा होने पर भी श्रीभगवान् परम चेतन हैं, जबकि जीव के लिए ऐसा

नहीं कहा जा सकता। मुक्ति (संसिद्धि) की किसी भी अवस्था में जीव परम-चेतन नहीं हो सकता। ऐसा कहने वाला मत निस्सन्देह भ्रान्त है। जीव चेतन तो है, किन्तु पूर्ण अथवा परम चेतन नहीं।

जीव और ईश्वर में भेद का विवेचन भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में किया गया है। श्रीभगवान् तथा जीव दोनों ही 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् चेतन हैं। दोनों में भेद यह है कि जीव व्यष्टि-चेतन हैं और श्रीभगवान् समष्टि-चेतन हैं। प्रकारान्तर से, जीव की चेतना एक देह तक सीमित है, जबकि श्रीभगवान् की चेतना सर्वव्यापी है। जीवमात्र के हृदय में बैठे होने से उन्हें जीवों की मानसिक वृत्ति का पूर्ण ज्ञान रहता है, इस तथ्य को स्मरण रखना चाहिए। यह भी कहा गया है कि जीव के हृदय में ईश्वर-रूप से स्थित परमात्मा स्वेच्छानुरूप कर्म करने के लिए जीव को निर्देश देते हैं। मायाबद्ध जीव को तो अपने कार्य कर्म की भी विस्मृति हो जाती है। पहले वह कुछ कर्म करने का निश्चय करता है और फिर अपने ही कर्म और कर्मफल में बँध जाता है। एक प्रकार का शरीर त्याग कर वह अन्य देह में प्रविष्ट होता है, उसी भाँति जैसे जीर्ण वस्त्रों को उतार कर नूतन परिधान धारण किया जाता है। इस विधि से देहान्तर करता हुआ जीवात्मा अपने पिछले कर्मफल को भोगता है। इन कर्मों का स्वरूप तभी बदला जा सकता है, जब वह सत्त्वगुण में स्थित होकर स्वस्थ चित्त से अपने लिए उपयुक्त कर्म का निश्चय कर ले। यदि वह ऐसा करे तो उसके विगत सम्पूर्ण कर्मों का फल बदला जा सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्मफल शाश्वत् (नित्य) नहीं है। इसीलिए हम कह आए हैं कि ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल नित्य तत्त्व हैं, जबकि कर्म नित्य नहीं है।

परम चेतन ईश्वर और जीव की समानता को इस प्रकार समझा जा सकता है। दोनों की चेतना दिव्य है। ऐसा नहीं कि चेतना का उद्भव जड़ प्रकृति के संग से होता है। यह विचार सर्वथा भ्रान्तिमूलक है। भगवद्गीता इस मत को स्वीकार नहीं करती कि प्राकृतिक रसायनों के सम्मिश्रण की किसी विशिष्ट परिस्थिति में चेतना का उदय हुआ हो। किसी रंग के कांच में से प्रतिबिम्बित प्रकाश उसी वर्ण का प्रतीत होता है। माया आवरण के कारण जीव की चेतना तो इस प्रकार विकृत रूप से प्रतिबिम्बित हो सकती है, किन्तु श्रीभगवान् की चेतना माया से नहीं ढक सकती। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं **मयाध्यक्षेण प्रकृतिः**। उनके संसार में अवतरित होने पर भी उनकी चेतना माया से अतीत रहती है। यदि ऐसा नहीं होता तो वे दिव्य-तत्त्व का प्रवचन नहीं कर सकते, जैसे उन्होंने भगवद्गीता में किया है। वैकुण्ठ-जगत् का वर्णन वही कर सकता है, जिसकी चेतना माया-विकारों से मुक्त हो। अतः यह सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् माया-दोष से नित्य मुक्त हैं। इसके विपरीत, वर्तमान में हमारी चेतना माया आवरण से दूषित है। भगवद्गीता सिखाती है कि इसे शुद्ध करना है। जब यह चेतना शुद्ध हो जायेगी तो हमारे कर्म श्रीभगवान् की इच्छापूर्ति में ही तत्पर रहेंगे, जिसके परिणाम में हमें शाश्वत् सुख की प्राप्ति होगी।

यह नहीं कि सर्वथा निष्क्रिय हो जाना है। अपितु अपनी क्रियाओं का शुद्धिकरण करना होगा, शुद्ध क्रियाओं को ही 'भक्ति' कहते हैं। भक्तिमय कर्म साधारण क्रियाओं के समान प्रतीत हो सकते हैं, पर वास्तव में वे माया-दूषित नहीं होते। यह न जानने वाले अज्ञानी को भक्त और भगवान् भले ही साधारण मनुष्य के समान कर्म करते प्रतीत हों, परन्तु यह नितान्त सत्य है कि भक्तिमय कर्म माया के त्रिगुणों से बिल्कुल मुक्त एवं शुद्ध होते हैं। इससे हमें यह समझ लेने चाहिए कि वर्तमान अवस्था में हमारी चेतना माया-आवरण से दूषित है।

माया से दूषित अवस्था में ही जीव बद्ध (उपाधिग्रस्त) कहा जाता है। 'मैं प्रकृतिजन्य हूँ'—इस प्रकार का भ्रम विकृत मति से उत्पन्न होता है। यही मिथ्या अहंकार कहलाता है। जिसकी देह में आत्मबुद्धि है, वह अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ सकता। जीव को देहात्मबुद्धि से मुक्त करने के लिये भगवद्गीता का गान किया गया है। भगवान् से इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए अर्जुन ने भी वह स्थिति ग्रहण की है। देहात्मबुद्धि से अवश्य मुक्त हो जाय, यह योगी का प्रथम कर्तव्य है। जो मुक्त होना चाहता है, उसे सबसे पहले यह सीखना है कि वह इस प्राकृत देह से भिन्न है। 'मुक्ति' का अर्थ है मोह से स्वतन्त्रता। श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि इस प्राकृत-जगत् की मलिन-मति (मोह) से मुक्त होकर शुद्ध चेतन स्वरूप में फिर से स्थित हो जाना 'मुक्ति' है। भगवद्गीता के सम्पूर्ण उपदेश का उद्देश्य इसी शुद्ध चेतन स्वरूप को जागृत करना है। इसी कारण गीता के उपदेश को समाप्त करके श्रीकृष्ण अर्जुन से प्रश्न करते हैं कि उसकी चेतना मोह से मुक्त होकर शुद्ध हो गई अथवा नहीं? मोहरहित शुद्ध चेतना का अर्थ है श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करना। यही शुद्ध चेतना का सार है। श्रीभगवान् के भिन्न-अंश होने से हम में चेतना तो पहले से ही है, किन्तु माया के त्रिविध गुणों के सम्पर्क मे रहने से हम बँध जाते हैं। परमपुरुष श्रीभगवान् इस प्रकार कभी नहीं बँधते। परमेश्वर और बद्धजीव में यही अन्तर है।

यह चेतना क्या है? इस चेतना का स्वरूप है, 'मैं हूँ'। मोहावस्था में 'मैं हूँ' का अर्थ है कि मैं माया का प्रभु हूँ, भोक्ता हूँ। प्रत्येक जीव अपने को प्राकृत-संसार का प्रभु तथा स्रष्टा समझता है, वास्तव में यह जगत का चक्र इसी कारण से चल रहा है। मोह के दो मनोवैज्ञानिक विभेद हैं, एक यह कि मैं स्रष्टा हूँ और दूसरा यह कि मैं भोक्ता हूँ। यथार्थ में श्रीभगवान् ही स्रष्टा और भोक्ता हैं, उनका भिन्न-अंश जीव स्रष्टा अथवा भोक्ता न होकर सहयोगी-मात्र है। वह वस्तुतः श्रीभगवान् द्वारा रचित है और उन्हीं के द्वारा भोगा जाता है। उदाहरणार्थ, संयन्त्र का अंग-प्रत्यंग सम्पूर्ण उपकरण के साथ सहयोग करता है। इसी प्रकार हाथ, पैर, नेत्र आदि शरीर के अंग स्वयं भोक्ता नहीं हैं। भोक्ता तो एकमात्र उदर ही है। पैर चलते हैं, हाथ भोजन कराते हैं, दाँत चर्वण करते हैं तथा शरीर के अन्य अंग भी उदर-पूर्ति में तत्पर रहते हैं, क्योंकि उदर से सम्पूर्ण शारीरिक संरचना का परिपोषण होता है। इस कारण उदर को

ही सम्पूर्ण भोजन प्राप्त होता है। जड़ को सींचने से सम्पूर्ण वृक्ष का और उदर-पूर्ति से सम्पूर्ण शरीर का पोषण हो जाता है। यदि शरीर को स्वस्थ रखना है तो शरीर के सब अंग-प्रत्यंगों को उदर-पूर्ति करने में सहयोग करना होगा। इसी भाँति श्रीभगवान् स्रष्टा और भोक्ता हैं, अतएव उनके आश्रित हम सभी जीवों से अपेक्षित है कि हम उनके सन्तोष के लिए सहयोग करें। यदि हम ऐसा करें तो वस्तुतः हमें ही लाभ होगा, जैसे उदर में पहुँचे आहार से शरीर के अन्य सभी अंगों का पोषण होता है। हाथ की अंगुलियाँ स्वयं भोजन नहीं कर सकतीं। सृजन और भोक्तापन के केन्द्र परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं, जीव तो उनके सहयोगी मात्र हैं। वे सहयोग से भोगते हैं। परमेश्वर और जीव का पारस्परिक सम्बन्ध स्वामी-सेवक जैसा है। स्वामी के पूर्ण सन्तुष्ट हो जाने से सेवक का सन्तोष अपने-आप हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि संसार को प्रकट करने वाले श्रीभगवान् की भाँति जीव भी प्राकृत-जगत् का स्रष्टा और भोक्ता बनना चाहता है, परन्तु श्रीभगवान् को प्रसन्न करने में ही उसका यथार्थ कल्याण सन्निहित है।

इस भगवद्गीता शास्त्र से हमें यह ज्ञात होता है कि पूर्ण तत्त्व में परमेश्वर, जीव, प्रकृति, महाकाल तथा कर्म का समावेश है। ग्रन्थ में इन सभी तत्त्वों का विवेचन है। इन सब तत्त्वों के पूर्ण समावेश से पूर्ण तत्त्व बना है, जो परम सत्य परब्रह्म है। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण परतत्त्व अथवा परम सत्य हैं। सम्पूर्ण सृष्टि उन्हीं की विविध शक्तियों का कार्य है। अस्तु, वे ही पूर्ण परतत्त्व (परब्रह्म) हैं।

गीता में निर्विशेष ब्रह्म को भी पूर्ण परतत्त्व श्रीकृष्ण के आश्रित बताया गया है। 'ब्रह्मसूत्र' में ब्रह्मतत्त्व का अधिक स्पष्ट विवरण है। वहाँ इसे सूर्य से निस्सृत किरणराशि की उपमा दी गई है। निर्विशेष ब्रह्म श्रीभगवान् की देदीप्यमान ज्योति है। बारहवें अध्याय में उल्लेख है कि निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा के ज्ञान से परम सत्य की केवल अपूर्ण अनुभूति होती है। वहाँ यह भी उल्लेख है कि भगवान् पुरुषोत्तम, निर्विशेष ब्रह्म और परमात्मा रूपी आंशिक तत्त्वानुभूति, इन दोनों से अतीत हैं। इसी से उन्हें सच्चिदानन्द-विग्रह कहा जाता है। 'ब्रह्मसंहिता' का प्रारम्भ इस प्रकार है, **ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण-कारणम्।।** श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण आदिपुरुष हैं। उनका श्रीविग्रह मूर्तिमान् सच्चिदानन्दघन है। निर्विशेष ब्रह्म-प्राप्ति से उनके 'सत्' अंश की अनुभूति होती है और परमात्मा स्वरूप के ज्ञान से 'चित्' अश (शक्ति) की ही अनुभूति होती है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जाने पर तो सच्चिदानन्द के सम्पूर्ण विग्रह का साक्षात्कार हो जाता है।

अल्पज्ञ मनुष्य परम सत्य को निराकार-निर्विशेष मानते हैं, जबकि यथार्थ में वे दिव्य पुरुष हैं, जैसा सम्पूर्ण वेदों से प्रमाणित है— **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतना-नाम्।** जिस प्रकार हम सब जीवों का निजी शाश्वत् स्वरूप है, उसी प्रकार परम सत्य भी अन्ततः एक पुरुष-विशेष ही हैं। अतएव भगवान् की प्राप्ति हो जाने पर

समस्त दिव्य तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। पूर्ण परात्पर तत्त्व निराकार नहीं है। यदि वे निराकार होते अथवा किसी अन्य तत्त्व से न्यून होते, तो उनकी पूर्ण परात्परता सिद्ध ही नहीं होती। पूर्ण परतत्त्व में उन सभी तत्त्वों का समावेश होना आवश्यक है, जो हमारे अनुभव में आते हों अथवा जो हमारे अनुभव से अतीत ही क्यों न हों। अन्यथा उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इससे सिद्ध है कि पूर्ण परतत्त्व श्रीभगवान् अमित शक्तियों से युक्त हैं।

श्रीकृष्ण विविध शक्तियों के साथ किस प्रकार क्रियाशील हैं, भगवद्गीता में इसका भी वर्णन है। जिसमें हम बद्ध हैं, वह प्राकृत-जगत् भी अपने में पूर्ण है; क्योंकि साख्य के अनुसार इसका सृजन चौबीस तत्त्वों से हुआ है। ये इस भाँति पूर्ण रूप से संगठित हैं कि इस जगत् के धारण-पोषण के लिए सम्पूर्ण आवश्यक पदार्थों का स्वयं निर्माण कर सकते हैं। अतः इसमें न तो कोई विजातीय तत्त्व क्रियाशील है और न ही कोई अभाव है। परम पूर्ण शक्ति के द्वारा निश्चित किया हुआ इस सृष्टि का एक नियत काल है, जिसके पूर्ण हो जाने पर पूर्ण तत्त्व की पूर्ण व्यवस्था से इस अनित्य सृष्टि का विनाश हो जाता है। जीवों को, जो अणु-अंश होते हुए भी अपने में पूर्ण हैं, पूर्ण तत्त्व की प्राप्ति के लिए पूर्ण सुविधा प्रदान की गई है; पूर्ण तत्त्व के ज्ञान की अपूर्णता के कारण ही विविध प्रकार की अपूर्णताओं की प्रतीति होती है। अस्तु, भगवद्गीता में वैदिक विद्या के पूर्ण ज्ञान का समावेश है।

वैदिक ज्ञान सर्वथा पूर्ण और अमोघ (दोषमुक्त) है। वैष्णव उसे ऐसा ही मानते हैं। उदाहरणार्थ, स्मृति का विधान है कि यदि पशु-विष्टा का स्पर्श कर लिया जाय तो आत्मशुद्धि के लिए स्नान करना आवश्यक है। गोमय भी पशु-विष्टा है। परन्तु वैदिक शास्त्रों में गोमय को शुद्धिकारक माना गया है। यद्यपि इसमें विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु वैदिक-विधान होने से यह मान्य है, इसे मानना वस्तुतः भूल न होगी। अब तो आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी सिद्ध हो चुका है कि गोमय में सारे कृमिनाशक गुण हैं। अतएव संशय-भ्रम से सर्वथा मुक्त होने के कारण वैदिक ज्ञान पूर्ण है। भगवद्गीता इसी वैदिक ज्ञान का सार-सर्वस्व है।

वैदिक ज्ञान अनुसधान का विषय नहीं है। हमारा अनुसन्धानकार्य अपूर्ण (दोषयुक्त) है, क्योंकि जिन इन्द्रियों से हम अनुसन्धान करते हैं, वे स्वयं अपूर्ण तथा दोषयुक्त हैं। हमें पूर्ण ज्ञान को ग्रहण करना है, जो भगवद्गीता के अनुसार परम्परा से अवतरित होता है। यह परम्परा ही ज्ञान-प्राप्ति की यथार्थ स्रोत है, जो परमगुरु भगवान् से प्रारम्भ होकर अनुगामी आचार्यों के रूप में चली आ रही है। साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से गीतोपदेश सुनकर अर्जुन ने भी विरोध किये बिना उनके एक-एक वचन को स्वीकार किया है। भगवद्गीता के एक अंश को मानकर दूसरे को न मानने की स्वतन्त्रता किसी को भी प्राप्त नहीं है। हमें भगवद्गीता को मनमाने अर्थ लगाए बिना, उसके किसी भी अंश का बहिष्कार किये बिना, हठधर्मी के बिना यथारूप में ग्रहण करना है। गीता तो वास्तव में वैदिक ज्ञान का सर्वाधिक पूर्ण प्रतिपादन है। वैदिक ज्ञान

की प्राप्ति दिव्य स्रोतों से होती है। सर्वप्रथम स्वय श्रीभगवान् ने इसका प्रवचन किया था। श्रीभगवान् की वाणी साधारण मनुष्यों के समान नहीं है। साधारण मनुष्य भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (शठता) और करणापाटव (इन्द्रियों की अपूर्णता)—इन चार विकारों से दूषित रहते हैं। जिसमें ये चार दोष हों, वह तत्त्वज्ञान को शुद्ध रूप में प्रदान नही कर सकता।

वैदिक ज्ञान का प्रसार इस कोटि के दोषपूर्ण जीवो के द्वारा नही किया जाता। उसका सचार सर्वप्रथम आदिजीव ब्रह्मा के हृदय में किया गया था। ब्रह्माजी ने भगवान् से प्राप्त हुए इसी ज्ञान को शुद्ध रूप में अपने पुत्रों और शिष्यों में प्रचारित किया। श्रीभगवान् पूर्ण हैं; वे मायावश नहीं हो सकते। अतएव बुद्धिमानी से यह जान लेना चाहिए कि वे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के एकमात्र स्वामी हैं और वे ही आदि स्रष्टा हैं, अर्थात् ब्रह्मा तक के जन्मदाता हैं। इसी से ग्यारहवें अध्याय में श्रीभगवान् को 'प्रपितामह' कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मा जी को 'पितामह' कहा जाता है और श्रीकृष्ण उनके पिता हैं। अतएव किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार न समझे, उन्ही वस्तुओं को स्वीकार करे, जो जीवन धारण के लिये श्रीभगवान् द्वारा नियत हैं।

श्रीभगवान् के द्वारा हमारे लिये नियत की गई वस्तुओं का सदुपयोग हम किस विधि से करें, इसके अनेक दृष्टान्त दिये जाते हैं। भगवद्गीता में भी इसका वर्णन है। अर्जुन ने प्रारम्भ में यह निश्चय किया था कि वह कुरुक्षेत्र के युद्ध में नहीं लड़ेगा। यह उसका अपना निर्णय था। एक बार तो उसने श्रीकृष्ण से स्पष्ट कह ही दिया कि स्वजनों का वध करने से प्राप्त राज्य को भोगना उसके लिए सम्भव नही है। अर्जुन का यह निर्णय देहात्मबुद्धि पर आधारित था, क्योंकि वह समझ रहा था कि वह स्वय देह है और भाई, भतीजे, साले, पितामह आदि देह के सम्बन्धी उसके बन्धु है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही वह इस प्रकार विचार कर रहा था। भगवद्गीता का प्रवचन इसी दृष्टिकोण को बदलने के लिए किया गया और अन्त मे अर्जुन ने श्रीभगवान् के मार्गदर्शन मे लड़ने का ही निश्चय किया। उसने कहा है, **करिष्ये वचनं तव**, 'मैं आपके वचनों का पालन करूँगा।'

मनुष्य इस संसार में शूकर के समान परिश्रम करने के लिए उत्पन्न नहीं हुआ है। यह परम आवश्यक है कि इस मनुष्य योनि की महत्ता को जानकर वह पशु के समान निकृष्ट आचरण करना छोड़ दे। सम्पूर्ण वैदिकशास्त्रों में यह निर्देश है और इसी उपदेश का सार भगवद्गीता में निभृत है। वैदिक शास्त्र मनुष्य के लिए हैं, पशुओं के लिए नहीं। पशु पशु का वध कर देने पर भी पाप का भागी नहीं होता। किन्तु यदि मनुष्य अपनी असयमित रसना की तृप्ति के लिए किसी पशु की हत्या करे तो उसे प्राकृतिक नियम को तोड़ने का पाप अवश्य लगेगा। भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन प्रकार के होते हैं। आहार के भी सत्त्व, रज और तम—ये तीन भेद हैं। यह सब विशद रूप से वर्णन किया गया है, इसलिए यदि भगवद्गीता की शिक्षा का पर्याप्त

सदुपयोग किया जाय तो हमारा सम्पूर्ण जीवन शुद्ध हो जायगा और अन्त में उस परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जायगी, जो इस प्राकृत आकाश से परे है।

उस लक्ष्य को 'सनातन धाम' अथवा 'शाश्वत् परव्योम' कहा जाता है। हम देखते हैं कि प्राकृत-जगत् में सब कुछ अनित्य और क्षणभंगुर है। यह जन्म लेता है, बढ़ता है, कुछ समय तक विद्यमान रहता है, कुछ उपसृजन करता है, क्षय होता है और अन्त में लुप्त हो जाता है। इस संसार का यही नियम है, चाहे हम अपने शरीर का उदाहरण लें, चाहे फल का अथवा किसी अन्य पदार्थ का। किन्तु एक अन्य लोक की जानकारी भी हमें है, जो इस जगत् से परे है। वह लोक एक अन्य प्रकृति से बना है, जो 'सनातन' अर्थात् नित्य है। पन्द्रहवें अध्याय में जीव को सनातन कहा गया है, श्रीभगवान् तो सनातन हैं ही। श्रीभगवान् से हमारा नित्यसिद्ध अन्तरंग सम्बन्ध है तथा चिद्गुणों में हम सब एक हैं—वह धाम सनातन है, श्रीभगवान् सनातन हैं तथा जीव भी सनातन है। अतएव जीव में उसके सनातन धर्म को पुनः जागृत करना ही सम्पूर्ण भगवद्गीता का ऐकान्तिक लक्ष्य है। इस समय हम क्षणिक रूप से विविध प्रकार के कर्मों में संलग्न हैं; किन्तु क्षणभंगुर क्रियाओं को त्याग कर श्रीभगवान् द्वारा निर्दिष्ट क्रिया करने से इन सभी कर्मों का परिशोधन हो जायगा। वस्तुतः यही हमारा शुद्ध जीवन है।

श्रीभगवान्, उनका दिव्य धाम और जीव—ये सब सनातन हैं तथा सनातन धाम में श्रीभगवान् और जीव का संग मानव जीवन की परम सार्थकता है। श्रीभगवान् अपने जीव-पुत्रों पर अशेष कृपा का परिवर्षण करते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, '**सर्वयोनिषु**'.. '**अहं बीजप्रदः पिता**', 'मैं सबका पिता हूँ। जीवों को कर्मानुसार विविध योनियों की प्राप्ति होती है। पर यहाँ श्रीभगवान् का उद्घोष है कि वे उन सब के पिता हैं। अतः इन सभी पतित, बद्ध जीवों के उद्धार के लिए अवतरित हो कर वे सनातन धाम की ओर उनका आह्वान करते हैं, जिससे उनके सनातन संग में वे सनातन जीव अपने सनातन स्वरूप को प्राप्त हो जाएँ। श्रीभगवान् स्वयं नाना अवतार लेते हैं अथवा बद्ध जीवों का उद्धार करने के लिए अपने अन्तरंग सेवकों को पुत्ररूप में भेजते हैं अथवा पार्षदों और आचार्यों को भेजते हैं।

वास्तव में 'सानतन धर्म' का तात्पर्य किसी साम्प्रदायिक पद्धति अथवा मत-मतान्तर से नहीं है। वह तो श्रीभगवान् से सम्बन्धित है और सनातन जीव का स्वरूपभूत सनातन कर्तव्य है। श्रीमद्रामानुजाचार्य के अनुसार 'सनातन' उसे कहते हैं जिसका आदि-अंत न हो। श्रील रामानुजाचार्य के प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'सनातन धर्म' का आदि-अन्त नहीं है।

अंग्रेजी शब्द 'रिलिजन' का अर्थ 'सनातन धर्म' से भिन्न है। 'रिलिजन' का अर्थ विश्वास समझा जाता है और विश्वास बदल सकता है। जिस भी पद्धति में मनुष्य का विश्वास हो, उसे त्याग कर किसी अन्य पद्धति को अंगीकार कर लेने में वह स्वतन्त्र है। 'सनातन धर्म' तो यथार्थ में वह क्रिया है, जिसे बदला ही नहीं जा

सकता। उदाहरणार्थ, जल से रस तथा अग्नि से तेज को अलग नहीं किया जा सकता। इसी भाँति, जीव के सनातन धर्म को उससे अलग नहीं किया जा सकता। सनातन धर्म वस्तुतः जीव का नित्य स्वरूप ही है। अतएव श्री रामानुजाचार्य की प्रामाणिकता के आधार पर हम कह सकते हैं कि सनातन धर्म का आदि अथवा अन्त नहीं होता। इससे सिद्ध हो जाता है कि सनातन धर्म साम्प्रदायिक नहीं है, क्योंकि वह देश-काल की सीमाओं से मुक्त है। फिर भी विविध साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के अनुयायी भ्रमपूर्वक सनातन धर्म को भी साम्प्रदायिक मान बैठते हैं। परन्तु यदि आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में गम्भीर अन्तर्दृष्टि से इस विषय का विवेचन किया जाये तो यह सत्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा कि संसार के सब मनुष्यों के लिये ही नहीं, वरन् जगत् के सम्पूर्ण जीवों के लिये सनातन धर्म का प्रयोजन है।

सनातन धर्म से इतर सभी सम्प्रदायों (मतों) का आरम्भ विश्व-इतिहास से जाना जा सकता है। परन्तु सनातन धर्म के प्रवर्तन का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है, क्योंकि वह तो जीव में नित्य रहता है। जीव के सम्बन्ध में शास्त्रों का कथन है कि वह जन्म-मृत्यु से मुक्त है। गीता में भी उसे अजन्मा और नित्य कहा है। जीव सनातन तथा अविनाशी है, क्षणभगुर शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह बना रहता है। 'सनातन धर्म' के स्वरूप को भलीभाँति हृदयंगम करने के लिये हमे 'धर्म' शब्द के धातुमूल को देखना चाहिए। 'धर्म' का अर्थ है, 'वह गुण जो किसी वस्तु के साथ नित्य बना रहता है।' अग्नि के साथ तेज और प्रकाश नित्य रहते हैं, तेज और प्रकाश के बिना 'अग्नि' शब्द कुछ अर्थ ही नही रखता। इसी प्रकार हमें जीवों के स्वरूपभूत अवयव (अंग) को जानना है। यही अवयव उसका नित्य सहचर है। वह नित्य सहचर उसका सनातन गुण है और वही सनातन गुण उसका सनातन धर्म है।

जब सनातन गोस्वामी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो श्रीमन्महाप्रभु ने उत्तर दिया कि जीव का स्वरूप श्रीभगवान् की सेवा करना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के इस कथन पर विचार करने से हमें यह सहज दृष्टिगोचर हो जायेगा कि प्रत्येक जीव निरन्तर किसी न किसी दूसरे जीव की सेवा में लगा रहता है। जीव अन्य जीवों की दो प्रकार से सेवा करता हुआ जीवन का उपभोग करता है। निम्न पशुवर्ग तो सेवक के समान मनुष्यों की सेवा करता ही है। 'क' मनुष्य 'ख' स्वामी की सेवा करता है, 'ख' 'ग' स्वामी की सेवा करता है, 'ग' 'घ' स्वामी की सेवा करता है, इत्यादि। इस परिस्थिति में हम देख सकते हैं कि मित्र मित्र की, माता पुत्र की, पत्नी पति की और पति पत्नी की सेवा में रत है, आदि आदि। यदि हम इस दिशा में आगे गवेषणा करते जायें तो पायेंगे कि ऐसा कोई जीव नहीं है, जो किसी दूसरे की सेवा न करता हो। राजनीतिज्ञ चुनाव-घोषणापत्र इसीलिए निकालता है जिससे जनता को विश्वास हो जाय कि वह वास्तव में उसकी सेवा कर सकता है। मतदाता उसे अपने मूल्यवान् मत यही समझकर देते हैं कि वह समाज की

उल्लेखनीय सेवा करेगा। दुकानदार ग्राहक की सेवा करता है और कारीगर पूँजीपति की। पूँजीपति कुटुम्ब की सेवा में तत्पर है और सनातन जीव के सनातन स्वरूप के अनुसार परिवार राजा का सेवक है। इस प्रकार जीवमात्र अन्य जीवों की सेवा कर रहा है, कोई भी इस सिद्धान्त का अपवाद नहीं है। अत यह निष्कर्ष सुगमता से निकाला जा सकता है कि सेवाभाव जीव का नित्य सहचर है, वस्तुत. सेवा करना ही जीव का सनातन धर्म है।

तथापि देशकाल के अनुसार मनुष्य अपने को हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध आदि मत-मतान्तरों का अनुयायी मान लेता है। ये सभी उपाधियाँ सनातन धर्म से इतर हैं। एक हिन्दु मत बदलकर मुस्लिम बन सकता है, मुस्लिम अपना मत त्याग कर हिन्दु मत अगीकार कर सकता है। इसी प्रकार ईसाई आदि भी मत-परिवर्तन करने में स्वतन्त्र हैं। परन्तु किसी भी परिस्थिति में, दूसरों की सेवा करने के सनातन स्वरूप (धर्म) में अन्तर नहीं आता। हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी किसी न किसी के सेवक हैं। अस्तु, अपने को किसी सम्प्रदाय विशेष का मानना अपने सनातन धर्म में अनास्था का द्योतक है। वास्तव में सेवा करना ही सनातन धर्म है।

यथार्थ में श्रीभगवान् से हमारा सम्बन्ध सेवा भाव का है। श्रीभगवान् परम भोक्ता हैं और हम सब जीव उसके सेवक हैं। हमारा सृजन वस्तुतः उनके उपभोग के लिये हुआ है, अत· श्रीभगवान् के साथ उस सनातन आनन्दास्वादन में भाग लेने से हम सुखी हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। उदर से सहयोग किये बिना शरीर का कोई भी अग सुखी नही हो सकता। उसी भाँति जीव के लिये भी स्वतन्त्र रूप से सुखी होना सम्भव नहीं है। प्रकारान्तर से, श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा से विमुख रह कर जीव सुखी नहीं हो सकता।

भगवद्गीता में देवसेवा अथवा देवोपासना का अनुमोदन नहीं किया गया है। सातवें अध्याय के बीसवें श्लोक में उल्लेख है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियमास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।

'जिनका चित्त विषय वासना से दूषित है, वे मनुष्य ही देवताओं की शरण में जाते हैं और स्वभाव के अनुसार उपासना के विधि-विधान का परिपालन करते हैं।' यहाँ सुबोध रूप में बताया गया है कि कामी मनुष्य ही भगवान् श्रीकृष्ण के स्थान पर देवताओं की उपासना करते हैं। 'कृष्ण' नाम साम्प्रदायिक नहीं है। 'कृष्ण' नाम का अर्थ है परमोच्च आनन्दरस। शास्त्रो से सिद्ध है कि श्रीभगवान् रसराज हैं, अर्थात् समग्र आनन्द के आगार हैं। हम सभी आनन्द का अन्वेषण कर रहे हैं· **आनन्दमयोऽभ्यासात्**। (ब्रह्मसूत्र १ १ १२) जीव, जो श्रीभगवान् की भाँति ही पूर्ण चेतन हैं, सुख (आनन्द) चाहते हैं। श्रीभगवान् तो नित्य आनन्मय हैं ही, अत. उनसे सहयोग करके और उनका सग करने पर जीव भी आनन्द को प्राप्त हो जाते हैं।

अपनी आनन्दमयी वृन्दावन लीला के रस का परिवेषण करने के लिए ही

श्रीभगवान् इस अनित्य धरा धाम पर अवतीर्ण होते हैं। श्रीधाम वृन्दावन में निवास करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने गोप सखाओं, गोपियों, व्रजवासियों तथा गोधन के साथ क्रीड़ा करके परमानन्दमय लीलारस कल्लोलिनी प्रवाहित की थी। व्रजवासी तो बस केवल श्रीकृष्ण को ही जानते थे। श्रीकृष्ण ने भी अपने पिता नन्द महाराज को इन्द्र की पूजा में प्रवृत्त नहीं होने दिया। वे इस सत्य को स्थापित करना चाहते थे कि किसी भी प्रकार की देवोपासना की कोई आवश्यकता नहीं है। जनता भगवान् की ही आराधना करे, क्योंकि उनके धाम की प्राप्ति जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य है।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय, श्लोक छ. में भगवान् श्रीकृष्ण के धाम का वर्णन है

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

'मेरे उस स्वयप्रकाश परम धाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है। जिसे प्राप्त हुआ जीव इस ससार में फिर नहीं आता, वही मेरा परम धाम है। (भगवद्गीता १५.६)

यह श्लोक उस सनातन धाम की सूचना देता है। हम समझते हैं कि प्राकृत आकाश की भाँति उस चिदाकाश में भी सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि होंगे। किन्तु श्रीभगवान् ने इस श्लोक में कहा है कि सनातन धाम में सूर्य, चन्द्रमा अथवा किसी भी प्रकार की अग्नि की अपेक्षा नही है, क्योंकि श्रीभगवान् के श्रीअग से निस्सृत 'ब्रह्मज्योति' नामक किरणराशि से वह धाम स्वयप्रकाश है। हम अन्य लोकों मे गमन करने के लिए भीषण कठिनाइयों के मध्य भगीरथ-प्रयत्न कर रहे हैं, पर भगवद्धाम को जानना कठिन नहीं है। वह धाम 'गोलोक' कहलाता है। 'ब्रह्म संहिता' मे उस का अतिशय मधुर वर्णन है **गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः।** श्रीभगवान् अपने गोलोक धाम में नित्य विराजमान रहते हैं। फिर भी इस संसार में भी वे प्राप्त हो सकते हैं। वास्तव में वे अवतीर्ण होकर अपना यथार्थ सच्चिदानन्द विग्रह इसीलिए प्रकट करते हैं कि उनके सम्बन्ध में हमें मनोधर्म का आश्रय न लेना पड़े। ऐसे मनोधर्म को रोकने के लिए वे श्यामसुन्दर रूप में स्वरूप-प्रकाश करते हैं। दुर्भाग्यवशात् अल्पज्ञ मनुष्य नराकार शरीर धारण करके हमारे मध्य क्रीड़ा करने के लिए अवतीर्ण हुए उन परमेश्वर का उपहास किया करते हैं। उनके नर रूप और क्रिया-कलाप के कारण उन्हें अपने समान मान बैठना भूल होगी। वस्तुस्थिति यह है कि अपनी योगमाया के द्वारा ही श्रीभगवान् अपने यथार्थ रूप को हमारे समक्ष प्रकट करके उन लीलाओं का दर्शन कराते हैं, जो उनके धाम मे चल रही नित्यलीला की प्रतिमूर्ति है।

परव्योम की ब्रह्मज्योति में असंख्य वैकुण्ठ धाम स्थित हैं। ब्रह्मज्योति का स्रोत परम धाम कृष्णलोक है और 'आनन्दचिन्मय रस' अप्राकृत वैकुण्ठ धाम इसमें तैर रहे हैं। श्रीभगवान् की वाणी है, **न तद् भासयते सूर्यो न शशांको**

न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। जो उस परम धाम को प्राप्त हो जाता है, उसका संसार में पुनरागमन नहीं होता। चन्द्रमा की तो बात ही क्या, संसार के परमोच्च लोक (ब्रह्मलोक) में पहुँच जाने पर भी जीवन की समस्याओं (जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि) का सामना करना होगा। प्राकृत-जगत् का कोई भी लोक इन चार कष्टों से मुक्त नहीं है। अतएव श्रीभगवान् भगवद्गीता में कहते हैं— **आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।** जीव अप्राकृत-पद्धति से एक लोक से दूसरे में गमन कर रहे हैं, किसी संयन्त्रीय व्यवस्था से नहीं। यह भी उल्लेख है. **यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।** अन्तर्लोकीय-यात्रा के लिए किसी संयन्त्रीय व्यवस्था की अपेक्षा नहीं है। गीता कहती है · **यान्ति देवव्रता देवान्।** चन्द्रमा, सूर्य जैसे उच्च लोक स्वर्ग कहलाते हैं। लोकों की उच्च, मध्यम और निम्न, तीन कोटियाँ हैं। पृथ्वी मध्यवर्ती लोक है। भगवद्गीता हमें सूचित करती है कि देवलोक में गमन करने की पद्धति अति सुगम है · **यान्ति देवव्रता देवान्।** वाँछित लोक के अधिष्ठातृ देवता की उपासना करने से चन्द्र, सूर्य, आदि किसी भी उच्च लोक में जाया जा सकता है।

परन्तु भगवद्गीता हमें इस प्राकृत-जगत् के अन्य लोकों में जाने का परामर्श नहीं देती। किसी संयन्त्रीय विधि से चालीस हजार वर्ष तक (इतने वर्ष तो जीवित रहना ही असम्भव है!) यात्रा करके यदि हम संसार के सर्वोच्च लोक (ब्रह्म-लोक) को प्राप्त कर भी लें, तो भी जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि से मुक्त नहीं हो सकेंगे। इन दुःखों से हमारी मुक्ति तभी होगी, जब हम परम धाम कृष्णलोक अथवा परव्योम के किसी वैकुण्ठ धाम को प्राप्त कर लें। परव्योम के लोकों में एक गोलोक-वृन्दावन नामक परम धाम भी है। यही आदि लोक भगवान् श्रीकृष्ण का स्वधाम है। यह सम्पूर्ण जानकारी भगवद्गीता में उपलब्ध है। इसके द्वारा हमें उपदेश दिया गया है जिससे प्राकृत-जगत् को त्याग कर हम भगवद्धाम में सच्चा आनन्दमय जीवन प्राप्त कर सकें।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में इस संसार का यथार्थ चित्रण है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।

श्रीभगवान् ने कहा, 'इस संसारी रूप पीपल के वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं तथा वेद इसके पत्ते कहे गए हैं। जो इसे जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।' (भगवद्गीता १५.१) इस श्लोक में प्राकृत-जगत् को एक ऐसे पीपल के वृक्ष की उपमा दी गई है, जिसका मूल ऊपर की ओर है तथा शाखाएँ अधोगामिनी हैं। किसी नदी अथवा जलाशय में प्रतिबिम्बित वृक्ष उलटा दीखता है, शाखाएँ नीचे हो जाती हैं और मूल ऊपर की ओर दिखाई देती है। इसी प्रकार यह प्राकृत-जगत् वैकुण्ठ-जगत् का विकृत प्रतिबिम्ब है—सत्य की छाया मात्र है। छाया में चाहे सचाई अथवा सारवत्ता नहीं होती, पर उससे सच्चे

जल का होना तो सिद्ध होता ही है। मरुभूमि में जल नहीं होता, तथापि मृगमरीचिका से वहाँ जल की प्रतीति होती है। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कहीं न कहीं जल अवश्य है। प्राकृत-जगत् में जल नहीं है, लेशमात्र भी सुख नहीं है, किन्तु वैकुण्ठ-जगत् में यथार्थ सुख रूपी जल अवश्य है।

श्रीभगवान् का परामर्श है कि हम वैकुण्ठ-जगत् को इस प्रकार प्राप्त कर लें·

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।

उस **अव्यय पद** अर्थात् सनातन धाम को **निर्मानमोह** पुरुष ही प्राप्त कर सकता है। इसका क्या अर्थ है? हम उपाधियों के पीछे लगे हुए हैं। कोई पुत्र बनना चाहता है, तो कोई ईश्वर, कोई राष्ट्रपति-पद चाहता है तो कोई धनवान् अथवा राजा बनने का अभिलाषी है, इत्यादि। जब तक हम इन उपाधियों में आसक्त हैं, तब तक देह में भी आसक्त रहेंगे, क्योंकि ये सभी उपाधियाँ देहगत हैं। परन्तु यथार्थ में हम देह से भिन्न हैं—यह अनुभूति ही भगवत्प्राप्ति का प्रथम चरण है। हम माया के गुणत्रय के असद् ससर्ग में पड़े हैं। अतएव यह परम आवश्यक है कि भगवद्भक्ति के द्वारा इनसे असंग (अनासक्त) हो जाएँ। भगवद्भक्ति में अनुरक्त हुए बिना माया के गुणत्रय से असंग नहीं हुआ जा सकता। उपाधियों और आसक्ति में कारण है हमारा काम विकार तथा प्रकृति पर प्रभुत्व करने की कामना। प्रकृति पर प्रभुत्व की इस प्रवृत्ति का जब तक हम त्याग नहीं करते, तब तक सनातन-धाम में पुन प्रवेश करना सर्वथा असम्भव है। उस अविनाशी धाम में वही प्रविष्ट हो सकता है, जो मिथ्या विषय-सुख के आकर्षण से मोहित हुए बिना भगवत्सेवा के परायण हो जाता है। ऐसे भक्त के लिए परम-धाम की प्राप्ति अतिशय सुगम है।

गीता में अन्यत्र कहा गया है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

अव्यक्त अर्थात् 'अप्रकट'। भगवद्धाम के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, पूरा का पूरा प्राकृत-जगत् तक हमारे सामने प्रकट नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ इतनी अपूर्ण और दोषयुक्त हैं कि इस जगत् के सारे नक्षत्रों को भी हम नहीं देख सकते। वैदिक शास्त्रों में सम्पूर्ण लोकों के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी प्राप्त है, उस पर विश्वास करना अथवा न करना हमारे ऊपर निर्भर रहता है। वैदिक शास्त्रों, विशेषतः श्रीमद्भागवत में सभी प्रधान लोकों का विशद वर्णन है। इस संसार से अतीत वैकुण्ठ-जगत् को वहाँ 'अव्यक्त' कहा गया है। उसी परम धाम की प्राप्ति के लिए वाँछा और उद्यम करे, क्योंकि उसे प्राप्त हो जाने पर फिर इस संसार में पुनरागमन नहीं होता।

उस भगवद्धाम को प्राप्त करने की पद्धति का वर्णन आठवें अध्याय में है:

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।

जो कोई भी अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ देह-त्याग करता है, वह तत्काल मेरी परा प्रकृति (मेरे स्वभाव) को प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।'

जो मृत्यु-काल में श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है, वह श्रीकृष्ण को ही प्राप्त होता है। अतएव श्रीकृष्ण के रूप-माधुर्य का नित्य स्मरण करता रहे। यदि इस रूप का चिन्तन करते हुए मृत्यु हुई तो वह भगवद्धाम मे प्रविष्ट हो जायगा। **मद्भावम्** शब्द से श्रीभगवान् की परा प्रकृति इंगित है। श्रीभगवान् सच्चिदानन्द विग्रह हैं। हमारी वर्तमान देह सच्चिदानन्द नहीं है। वह 'असत्' है, 'सत्' नहीं। नित्य न होकर नाशवान है—'चित्' अर्थात् ज्ञानमय नहीं, वरन् अज्ञान से आवृत है। हमें वैकुण्ठ-जगत् का लेशमात्र ज्ञान नहीं है। वास्तव में तो हमें प्राकृत-जगत् का भी पूर्ण ज्ञान नहीं है, यहाँ के कितने ही पदार्थ हमें अज्ञात हैं। देह 'निरानन्द' है, आनन्दमय होने के स्थान पर सर्वथा दुःखमय है। संसार में जितने भी दुःखों की हमें प्राप्ति होती है, वे सब के सब देहजनित है। परन्तु जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन-स्मरण करता हुआ इस देह को त्यागता है, वह तत्क्षण सच्चिदानन्द देह को प्राप्त कर लेता है। इसके प्रमाणस्वरूप आठवें अध्याय के पाँचवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण वचन देते हैं, 'वह मुझ को ही प्राप्त होता है।'

इस देह को त्याग कर प्राकृत-जगत् में कोई अन्य देह धारण करने का भी एक नियत क्रम है। मनुष्य की मृत्यु तभी होती है, जब यह निर्णय हो जाता है कि अगले जन्म में उसे किस योनि की प्राप्ति होनी है। यह निर्णय उच्च अधिकारी करते हैं, जीवात्मा स्वय नही। इस जीवन में किए कर्मों के अनुसार ही जीव पुनर्जन्म में उत्थान अथवा पतन को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यह जीवन भावी जीवन की तैयारी है। अत यदि इस जीवन मे भगवद्धाम-गमन के योग्य बन जायें, तो प्राकृत देह का अन्त होने पर हमें भगवान् श्रीकृष्ण के समान अप्राकृत वपु की प्राप्ति हो जायगी।

पूर्व वर्णन के अनुसार योगियों की ब्रह्मवादी, परमात्मावादी, भक्त आदि अनेक कोटियाँ हैं और ब्रह्मज्योति में असंख्य वैकुण्ठ धाम हैं। इन चिन्मय लोकों की संख्या प्राकृत-जगत् के सब लोकों की गणना से कहीं अधिक है। यह प्राकृत-जगत् सृष्टि की एकपादविभूति मात्र है। सृष्टि के इस प्राकृत अंश में खरबों लोक, सूर्य, नक्षत्र और चन्द्रमा वाले अरबों ब्रह्माण्ड हैं। इस पर भी यह प्राकृत सृष्टि पूर्ण सृष्टि का अति लघु अंश ही है। अधिकांश सृष्टि माया से परे परव्योम में है। जो परमब्रह्म से सायुज्य का अभिलाषी है, वह अविलम्ब भगवान् की ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर परव्योम में स्थित हो जाता है। दूसरी ओर भक्त, जो कि श्रीभगवान् के सांनिध्य का आस्वादन करना चाहता है, असंख्य वैकुण्ठ लोकों में से किसी एक में प्रवेश करता है। श्रीभगवान् अपने चतुर्भुज नारायण अंश से गोविन्द, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न आदि रूप धारण कर इन

लोकों में विराजमान रहते हैं और वैकुण्ठ लोकों में प्रविष्ट होने वाले भक्तों के साथ लीला करते हैं। अतएव जीवन के अन्त में योगी यथायोग्य ब्रह्मज्योति, परमात्मा अथवा भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। परव्योम में तो उन सभी का प्रवेश हो जाता है, पर वैकुण्ठ लोकों में केवल भगवद्भक्त ही प्रविष्ट हो पाते हैं। श्रीभगवान् आगे कहते हैं कि 'इसमें सन्देह नहीं है।' श्रीभगवान् की इस घोषणा में दृढ़ विश्वास करना है। जो हमारी कल्पना के अनुकूल न हो, उस सत्य को अस्वीकार कर देना युक्तिसंगत नहीं होगा। हमारा मनोभाव अर्जुन का सा होना चाहिए 'आप जो कुछ भी कहते हैं, वह सब सत्य है, मुझे स्वीकार है।' अतः भगवान् का यह कथन निस्सन्देह सत्य है कि मृत्युकाल में जो कोई भी उनका ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् के रूप में चिन्तन करता है, वह अवश्य परव्योम में प्रविष्ट हो जाता है। इसमें अविश्वास का तो प्रश्न ही नहीं बनता।

अन्तकाल में भगवच्चिन्तन करने के प्रकार का भी गीता में उल्लेख है

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए यह जीव देह को त्यागता है, उस उसको ही प्राप्त होता है।' (८.६)

माया (अपरा प्रकृति) परमेश्वर की एक शक्ति का प्रकाश है। 'विष्णु पुराण' में श्रीभगवान् की सम्पूर्ण शक्तियों का वर्णन है **विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता . . .**। परमेश्वर नाना प्रकार की असंख्य शक्तियों से युक्त हैं, जो हमारे लिए सर्वथा अचिन्त्य हैं। किन्तु तत्ववेत्ता ऋषियों ने इन शक्तियों का अध्ययन करके तीन भागों में वर्गीकरण किया है। ये सभी विष्णुशक्ति कहलाती हैं। इनमें एक परा नामक दिव्य शक्ति है। जैसा वर्णन किया जा चुका है, जीव इसी परा शक्ति के अंश हैं। अन्य सभी शक्तियाँ प्राकृत होने से तमोगुणमयी हैं। मृत्यु-काल में हम स्वेच्छानुसार इस संसार की अपरा शक्ति (माया) में बने रह सकते हैं अथवा वैकुण्ठ-जगत् की दिव्य शक्ति में स्थानान्तरित भी हो सकते हैं।

इस जीवन में हम परा-अपरा शक्तियों में से किसी एक का चिन्तन करने के अभ्यस्त हैं। समाचार पत्र, उपन्यास आदि नाना प्रकार का साहित्य हमारे चित्त को अपरा शक्ति (माया) के चिन्तन से भर देता है। इस कोटि के निकृष्ट साहित्य में तल्लीन हो रही अपनी चिन्तनशक्ति को हमें वैदिक साहित्य में लगाना है। महर्षियों ने पुराण आदि वैदिक साहित्य का प्रणयन इसी प्रयोजन से किया है। पुराण काल्पनिक नहीं हैं, वरन् ऐतिहासिक संकलन हैं। 'श्रीचैतन्य चरितामृत' (मध्यलीला २०।१२२) में कहा है—

माया मुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्णज्ञान।
जीवेर कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण।।

विस्मरणशील जीव परमेश्वर श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भुलाकर विषयपरायण हो रहे हैं। उनकी चिन्तनशक्ति को भगवद्धाम में केन्द्रित करने के

लिए ही श्रीकृष्ण ने विपुल वैदिक साहित्य प्रदान किया है। सर्वप्रथम उन्होंने वेद को चार भागों में विभक्त किया, फिर पुराणों में उनका विशदीकरण किया तथा अल्प सामर्थ्य वालों के लिये 'महाभारत' की रचना की। महाभारत रूपी महासागर से ही भगवद्गीता रूपी महारत्न निकला है। तत्पश्चात्, सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के सार तत्त्व का 'ब्रह्मसूत्र' में निरूपण किया गया और भविष्य में जनता के मार्गदर्शन के लिए उन्होंने स्वयं 'ब्रह्मसूत्र' के अपौरुषेय भाष्य — श्रीमद्भागवत की रचना की। हमें इन वैदिक शास्त्रों के चिन्तन-मनन में चित्त को नित्य लगाए रखना है। जिस प्रकार विषयी मनुष्यों का चित्त लौकिक पत्र-पत्रिकाओं में ही लगा रहता है, उसी भाँति हमें अपने चित्त को व्यासदेव द्वारा विरचित इन ग्रन्थों के अध्ययन में तत्पर रखना है। इससे हम मृत्यु समय में श्रीभगवान् का स्मरण-चिन्तन कर सकेंगे। श्रीभगवान् ने एकमात्र इसी मार्ग का परामर्श किया है; परिणाम के विषय में उनकी प्रतिभू (गारन्टी) है : 'इसमें सन्देह नहीं।' (गीता ८.७)

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ।।

'इसलिए हे अर्जुन ! तू नित्य-निरन्तर मेरे कृष्ण रूप का स्मरण कर और युद्ध-रूपी स्वधर्म का आचरण भी कर। इस प्रकार मेरे परायण कर्म करता हुआ तथा मेरे अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।'

श्रीकृष्ण अर्जुन से स्वधर्म को त्याग कर अपना स्मरण करने को नहीं कहते। वे किसी अव्यवहारिक पद्धति का परामर्श कभी नहीं देते। इस संसार में देह धारण करने के लिए कर्म करना अनिवार्य है। कर्म के अनुसार मानव समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभाजित है। ब्राह्मण अथवा बुद्धिजीवियों का वर्ग एक प्रकार का कार्य करता है, क्षत्रिय (प्रशासिनिक) वर्ग दूसरा कर्म करता तथा वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने स्वधर्म का पालन करते हैं। मानव समाज का यह नियम है कि चाहे कोई शूद्र हो अथवा वैश्य, क्षत्रिय, कृषक, उत्तम वर्ण का बुद्धिजीवी हो अथवा वैज्ञानिक या अध्यात्मवादी, जीवन धारण करने के लिए उसे कर्म करना ही होगा। इसी कारण श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि उसे अपने कार्य को त्यागने की आवश्यकता नहीं, वरन् स्वधर्म का आचरण करता हुआ भी वह उन्हीं (कृष्ण) का स्मरण करता रहे। यदि वह जीवन के लिए संघर्ष करते हुए श्रीकृष्ण के नित्य स्मरण का अभ्यास नहीं करेगा, तो मृत्यु-काल में श्रीकृष्ण का स्मरण नहीं कर सकेगा। श्रीचैतन्य महाप्रभु का भी यही उपदेश है। उन्होंने कहा है कि नित्य-निरन्तर श्रीभगवान् का कीर्तन करते हुए उनके स्मरण का अभ्यास करना चाहिए। श्रीभगवान् और उनके नाम में भेद नहीं है। अतएव अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश कि, 'मेरा स्मरण कर' तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु का यह उपदेश कि श्रीकृष्णनाम का कीर्तन करो'—वस्तुतः एक ही हैं। इनमें भेद नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णनाम सर्वथा अभिन्न हैं।

अद्वयतत्त्व होने से नाम-नामी में कुछ भी भेद नहीं है। अस्तु, भगवन्नाम लेते हुए जीवन की क्रियाओं को भगवत्स्मरण के अनुकूल बनाकर हमें नित्य-निरन्तर, दिन में चौबीस घण्टे भगवत्स्मरण रखने का अभ्यास करना चाहिए।

यह किस विधि से सम्भव है? आचार्यों ने इसका दृष्टान्त दिया है। किसी विवाहिता स्त्री की परपुरुष में आसक्ति अथवा किसी पुरुष की परायी स्त्री में आसक्ति साधारण आसक्ति से कहीं अधिक प्रबल होती है। इस प्रकार आसक्त हुआ प्राणी अपने प्रियतम के चिन्तन में नित्य तन्मय रहता है। उपपति के स्मरण में मग्न स्त्री गृह-कार्य करते हुए भी उससे मिलने के लिये सदा उत्कण्ठित रहती है। ऐसा होने पर भी अपने गृह कार्य को वह अधिक सावधानी से करती है, जिससे किसी को उसके उपपतित्त्व का भान न हो जाय। इसी प्रकार परम प्रियतम श्रीकृष्ण का नित्य चिन्तन करते हुए हमें अपने लौकिक कर्तव्यों का सुचारु रूप से निर्वाह करना चाहिए। इसके लिए प्रगाढ़ अनुराग की अपेक्षा है। यदि श्रीभगवान् में हमारा प्रगाढ़ प्रेम-भाव होगा तो स्वधर्म का आचरण करते हुए भी हम उनका स्मरण कर सकेंगे। पर इससे पूर्व उस प्रेम-भाव को उद्‌भावित करना होगा। श्रीकृष्ण का प्रेमी होने से अर्जुन नित्य उनके चिन्तन में तन्मय रहता है, श्रीकृष्ण का नित्य सहचर होते हुए भी उसने युद्ध किया। श्रीकृष्ण ने यह नहीं कहा कि वह युद्ध से विमुख होकर ध्यान के लिए वन में चला जाय। जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति योग-पद्धति का वर्णन किया तो अर्जुन यह कहने को बाध्य हो गया कि इस मार्ग का अभ्यास करना उसके लिए सम्भव नहीं है।

अर्जुन उवाच
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूधन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।।

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन। आपके द्वारा संक्षेप से कही गई योग-पद्धति मुझे अस्थायी और अव्यावहारिक सी दिखाई देती है, क्योंकि मन अति चञ्चल है। (गीता ६.३३)

परन्तु श्रीभगवान् ने उत्तर में कहा—

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।

'सम्पूर्ण योगियों में भी, जो श्रद्धावान् योगी भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है. वह मुझसे सर्वाधिक अन्तरंग रूप में युक्त है तथा सबसे उत्तम है।' (गीता ६.४७)

अतएव जो नित्य-निरन्तर भगवत्स्मरण करता है, वह सर्वोत्तम ज्ञानी और भक्त-शिरोमणि है। श्रीभगवान् ने अर्जुन से आगे यह भी कहा है कि वह क्षत्रिय है, इसलिए युद्ध का परित्याग नहीं कर सकता; किन्तु यदि वह उन (श्रीकृष्ण) का चिन्तन करता हुआ युद्ध करेगा, तो अन्तकाल में भी उसे उनकी स्मृति बनी रहेगी। इसके लिए

उसे सर्वतोभावेन भगवद्भक्ति की शरण लेनी होगी।

यथार्थ में हम कर्म अपने चित्त और मनीषा के द्वारा करते हैं देह से नहीं। अत: यदि मन-बुद्धि नित्य भगवत्स्मरण के ही परायण रहें तो इन्द्रियाँ भी उनकी अनन्य सेवा में तत्पर रहेंगी। कम से कम बाह्य रूप से तो इन्द्रियों की क्रियाएँ वही रहती हैं, परन्तु मति परिणत हो जाती है। भगवद्गीता भगवत्स्मरण में मन-बुद्धि को तन्मय कर देने की विधि सिखाती है। इस तन्मयता से भगवद्धाम की प्राप्ति सुलभ है। चित्त के कृष्णसेवा-परायण हो जाने पर इन्द्रियाँ भी स्वत उनकी सेवा में निवेशित हो जाती हैं। श्रीकृष्ण के मधुर चिन्तन में पूर्ण रूप से लीन रहना एक दिव्य कला है। यही भगवद्गीता का गोपनीय सार है।

आधुनिक मनुष्य ने चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए घोर संघर्ष किया है, परन्तु अध्यात्म में उन्नति के लिए कुछ भी प्रयास नहीं किया। जिनके जीवन के पचास वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, वे तो विशेष सावधानी सहित अपने शेष सीमित समय का सदुपयोग भगवत्स्मरण के अभ्यास में ही करें। इसी अभ्यास का नाम भक्तियोग है.

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्।।

ये नौ साधन, जिनमें भगवत्प्राप्त महापुरुष के मुख से भगवद्गीता का श्रवण करना सबसे सुगम है, जीव को भगवच्चिन्तन की ओर उन्मुख करते हैं। इससे निश्चल भगवत्स्मरण होने लगता है और देह-त्याग के अनन्तर श्रीभगवान् का सग करने के योग्य दिव्य शरीर की प्राप्ति भी हो जाती है।

श्रीभगवान् आगे कहते हैं

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।

'हे कुन्तीनन्दन! नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से भगवत्स्मरण का अभ्यास करने वाले को नि:सन्देह भगवद्धाम की प्राप्ति होती है।' (गीता ८ ८)

यह पद्धति कठिन नहीं है। परन्तु इसे उस अनुभवी मनुष्य से सीखना होगा, जो स्वयं इसका अभ्यास करता हो। यत्र-तत्र धावनशील चित्त को भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह अथवा कृष्णनाम की ध्वनि में एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए। मन स्वभाव से ही चचल तथा अस्थिर है। परन्तु कृष्णनाम के प्रभाव से यह स्थिर हो जाता है। इस प्रकार 'परम पुरुष' का सतत चिन्तन करते हुए उनको प्राप्त हो जाय। भगवद्गीता में आत्यन्तिक उपलब्धि—भगवत्प्राप्ति के साधन का स्पष्ट उल्लेख है, इस ज्ञान के द्वार प्राणीमात्र के लिए खुले हैं। इसमें सबका अधिकार है। सभी कोटि के मनुष्य श्रीभगवान् का स्मरण कर उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, श्रीभगवान् का श्रवण-स्मरण प्राणीमात्र के लिए सुगम है।

श्रीभगवान् का उद्घोष है:

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।

'हे पार्थ ! पापयोनि, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त हो जाते हैं। फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों और राजर्षियो के लिए तो कहना ही क्या है ? अतः इस दुःखमय और क्षणभगुर ससार में तू मेरा ही भजन कर।' (गीता, ९ ३२,३३)

वैश्य, स्त्री और शूद्र आदि निम्न श्रेणी के मनुष्य भी श्रीभगवान् को प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए असाधारण बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कोई भी भक्तियोग को अंगीकार कर श्रीभगवान् को जीवन का परम-लक्ष्य तथा निःश्रेयस (आश्रय) बना लेता है, वह भगवद्धाम में श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है। भगवद्गीता में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का आचरण करने से संसार की क्षणभंगुरता से उत्पन्न होने वाले जीवन के सब दुःखों का पूर्ण समाधान हो जाता है और जीवन कृतार्थ हो उठता है । यही सम्पूर्ण भगवद्गीता का सार-सर्वस्व है ।

अस्तु, सारांश में, भगवद्गीता परम दिव्य शास्त्र है। इसका अध्ययन पूर्ण मनोयोग से करे। यह जीव का सब प्रकार के भय से परित्राण करने में समर्थ है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।

'कृष्णभावना के लिए जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका नाश अथवा ह्रास नहीं होता; इस पथ में की गई अल्पमात्र प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर लेती है।' (गीता २.४०)

यदि भगवद्गीता का स्वाध्याय शुद्ध (निश्छल) भाव से मननपूर्वक किया जाय तो पूर्वकृत पाप कर्म फलित हुए बिना ही शान्त हो जाते हैं। गीता के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण का तुमुल उद्घोष है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

'सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पाप कर्मों से मुक्त कर दूँगा। तू भय मत कर।' (गीता १८.६६) इस प्रकार अपनी शरण में आए भक्त का पूर्ण उत्तरदायित्व श्रीभगवान् स्वयं वहन करते हैं और उसके सम्पूर्ण पापों को क्षमा कर देते हैं।

मनुष्य अपनी शुद्धि के लिए नित्य जल से स्नान करता है; किन्तु भगवद्गीता रूपी पावन गंगा-जल में तो जो एक बार भी स्नान कर लेता है, वह भवरोग की सम्पूर्ण मलिनता से सदा-सदाके लिये मुक्त हो जाता है। स्वयं श्रीभगवान् के मुख की वाणी इस गीता का पाठ करने वाले को किसी अन्य वैदिक ग्रन्थ के अध्ययन की

अपेक्षा नहीं रहती। नित्य-निरन्तर मनोयोग सहित भगवद्गीता के श्रवण में ही तत्पर रहे। वर्तमान काल मे मनुष्य समाज इतना अधिक विषयपरायण हो चुका है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का स्वाध्याय सम्भव नहीं रहा है। कल्याण के लिए यह एक ग्रन्थ—भगवद्गीता सर्वथा पर्याप्त है, क्योंकि यह वैदिक शास्त्रों का परम सार है और स्वय श्रीभगवान् ने इसका गायन किया है। कहा जाता है कि गगाजल का पान करने वाला अवश्य मुक्त हो जाता है। फिर श्रवणपुटों से भगवद्गीता का पान करने वाले का तो कहना ही क्या ? गीता तो वस्तुत महाभारत का सारामृत है। स्वय विष्णु ने इसका प्रवचन किया है, क्योंकि श्रीकृष्ण ही आदिविष्णु है। गीता रूपी सुधा-धारा श्रीभगवान् के मुखारविन्द से निस्यन्दित है, जबकि गगा उनके चरणारविन्द से निकली है। अवश्य ही श्रीभगवान् के मुख और चरण में भेद नही है, परन्तु यह सत्य तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि भगवद्गीता की महिमा गगा से भी कही बढ़कर है।

सब उपनिषद् मानो गौ के समान हैं और श्रीकृष्ण एक ग्वालबाल के तुल्य है, जो इस गौ से गीतामृत दोहन कर रहे हैं। यह दुग्ध वेदों का परम सार है और अर्जुन गोवत्स के अनुरूप है। विवेकी, महर्षि और शुद्ध भक्त ही इस भगवद्गीता रूपी दुग्धामृत का पान करते हैं।

आज के युग का मानव बडा इच्छुक है कि सबके लिए एक ही शास्त्र, एक ही ईश्वर, एक ही धर्म और एक ही व्यवसाय हो। अत सम्पूर्ण विश्व के लिए एक ही सार्वभौम शास्त्र हो-- **श्रीमद्भगवद्गीता**। सबके लिए एक ही आराध्य हो—**श्री-कृष्ण** और एक ही मन्त्र हो--**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**। तथा सम्पूर्ण जगत् के लिए एक ही उद्यम हो---**भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में निरन्तर लीन रहना।**

श्रीमद्भगवद्गीता की प्रामाणिक परम्परा

'एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः' (गीता ४.२)

यह '**श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप**' इस परम्परा में प्राप्त हुई है

१ **श्रीकृष्ण**, २ ब्रह्मा, ३ नारद, ४ व्यास, ५ मध्व, ६ पद्मनाभ, ७ नृहरि, ८ माधव, ९ अक्षोभ्य, १० जयतीर्थ, **११ ज्ञानसिन्धु**, १२ दयानिधि, १३ विद्यानिधि, १४ राजेन्द्र, १५ जयधर्म, १६ पुरुषोत्तम, १७ ब्रह्मण्यतीर्थ, १८ व्यासतीर्थ, १९ लक्ष्मीपति, २० माधवेन्द्रपुरी, २१ ईश्वरपुरी (नित्यानन्द, अद्वैत), २२ **श्रीचैतन्य महाप्रभु**, २३ रूप (स्वरूप, सनातन), २४ रघुनाथ, जीव, २५ कृष्णदास, २६ नरोत्तम, २७ विश्वनाथ, २८ (बलदेव) जगन्नाथ, २९ भक्तिविनोद, ३० गौरकिशोर, ३१ भक्तिसिद्धान्त सरस्वती, ३२ **कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद**

अथ प्रथमोऽध्यायः

अर्जुनविषादयोग

(कुरुक्षेत्र के युद्धप्रांगण में सैन्यनिरीक्षण)

धृतराष्ट्र उवाच।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१।।

अनुवाद

धृतराष्ट्र ने कहा, हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र होकर युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?।।१।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः व्यापक स्तर पर पठित भागवत-विद्या है, जो गीता माहात्म्य में साररूप से समाहृत है। वहाँ उल्लेख है कि कृष्णभक्त के आश्रय में ही गीता का मनोयोग से अध्ययन करना चाहिए और इस प्रकार स्वार्थप्रेरित मनमाने अर्थों के आवरण से मुक्त उसका यथार्थ तात्पर्य समझना चाहिए। भगवद्गीता के उस विशुद्ध ज्ञान का उदाहरण स्वयं भगवद्गीता में है। गीता को उसी भाँति

हृदयंगम करना है, जिस प्रकार अर्जुन ने साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से सुन कर उसे धारण किया। यथार्थ मे भाग्यशाली वही है, जो उसी शिष्य-परम्परा में स्वार्थप्रेरित मनमाने अर्थों के आरोप से मुक्त गीता का विशुद्ध ज्ञान अर्जित करता है। ऐसा भाग्यवान् वैदिक ज्ञान एव विश्व के अन्य सभी शास्त्रो के स्वाध्याय का लघन कर जाता है। गीता के अध्ययन से अन्य शास्त्रों का मर्म तो जाना जाता ही है, इसके अतिरिक्त, गीता में पाठक को वह तत्त्व भी प्राप्त है, जो अन्य किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नही है। यही गीता का अतुलनीय वैशिष्ट्य है। स्वय भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी होने के कारण गीता पूर्ण भागवत विद्या है।

महाभारत मे वर्णित धृतराष्ट्र और सञ्जय का वार्तालाप इस महान् दर्शन का उपोद्घात है। यह सर्वविदित ही है कि इस दर्शन की अवतारणा कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रागण में हुई, जो वैदिक युग के आदि काल से पवित्र तीर्थस्थान माना जाता है। पृथ्वी पर अपने अवतरणकाल मे भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव कल्याण के लिए इस कथामृत का प्रवचन किया।

धर्मक्षेत्र शब्द सारगर्भित है, क्योंकि कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन के पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण स्वय उपस्थित है। अपने पुत्र कौरवो की विजय के विषय मे धृतराष्ट्र बड़ा सदिग्ध था। अत सन्देह-निवारण के लिए उसके अपने सचिव सजय से जिज्ञासा की, 'मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ?' वह जानता था कि उसके पुत्र तथा अनुज पाण्डु के पुत्र कुरुक्षेत्र की रणभूमि मे निर्णयात्मक युद्ध के लिए एकत्रित हुए है। फिर भी, उसकी जिज्ञासा तात्पर्ययुक्त है। धृतराष्ट्र नही चाहता कि उसके पुत्रो और भतीजों में सन्धि हो। वह तो केवल युद्धस्थल में सघर्ष के लिए सन्नद्ध अपने पुत्रों की कुशल के विषय मे आश्वस्त होना चाहता था। युद्ध का आयोजन कुरुक्षेत्र में हुआ था, जिसे वेदों मे देवोचित तीर्थस्थान कहा गया है। इस कारण, युद्ध के परिणाम पर उस शाश्वत् पवित्र स्थान का क्या प्रभाव होगा, इस आशका से धृतराष्ट्र भयभीत हो गया। वह जानता था कि इसका प्रभाव अर्जुन आदि पाण्डवो के अनुकूल होगा, क्योंकि वे स्वभाव से ही सदाचारी थे। संजय श्रीवेदव्यासजी का शिष्य था। उनके अनुग्रह से धृतराष्ट्र के कक्ष में बैठे-बैठे उसे कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि का दर्शन हो सका। अतएव धृतराष्ट्र ने युद्ध-स्थिति के सम्बन्ध में उसीमे जिज्ञासा की।

पाण्डव एव धृतराष्ट्र-पुत्र, दोनों एक ही कुल की सन्तान है। परन्तु धृतराष्ट्र के वाक्य से उसका मनोभाव प्रकट होता है। उसने जान-बूझकर केवल अपने पुत्रों को कुरुवशी कहकर पाण्डवो को कौटुम्बिक उत्तराधिकार से वंचित किया है। इस प्रकार

अपने भतीजे पाण्डवों के सम्बन्ध में धृतराष्ट्र का दुर्भाव स्पष्ट है। जिस प्रकार धान के खेत से खर-पतवार को निकाल कर फैंक दिया जाता है, उस के अनुरूप इस कथा के उपक्रम से ही यह आशा है कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, जहाँ धर्म के जन्मदाता भगवान् श्रीकृष्ण स्वय विराजमान है, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन आदि का नाश होगा और युधिष्ठिर आदि धर्म-परायण जनो को श्रीकृष्ण स्वय स्थापित करेगे। **धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र** शब्दो के ऐतिहासिक और वैदिक अर्थ से विशिष्ट यह उनका गूढ तात्पर्य है।

सञ्जय उवाच।
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

अनुवाद

सजय ने कहा, हे राजन्! उस समय पाण्डवों की व्यूहरचना-युक्त सेना को देखकर राजा दुर्योधन ने गुरु द्रोणाचार्य के निकट जाकर यह वाक्य कहा।।२।।

तात्पर्य

धृतराष्ट्र जन्मान्ध तो था ही, दुर्भाग्यवश, आध्यात्मिक-दृष्टि से भी वचित था। वह जानता था कि उसके पुत्र धर्म के विषय में उसी के समान दृष्टिहीन हैं। इसलिए उसे विश्वास था कि वे जन्मजात पुण्यात्मा पाण्डवो से सन्धि कदापि नहीं करेंगे। फिर भी, उसे तीर्थस्थान के प्रभाव का सन्देह था। उसकी युद्ध विषयक जिज्ञासा के इस अभिप्राय को सजय समझ गया। अत हताश राजा को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सजय ने यह चेतावनी दी कि उसके पुत्र पवित्र स्थल के प्रभाव मे आकर सन्धि नही करने वाले है। उसने धृतराष्ट्र को यह भी बताया कि उसका पुत्र दुर्योधन पाण्डवो की सैन्यसज्जा को देख कर तत्काल अपने सेनानायक द्रोणाचार्य को यथार्थ स्थिति से अवगत कराने गया। यद्यपि दुर्योधन को 'राजा' सम्बोधित किया गया है, पर स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए वह स्वय सेनापति के निकट जाने को बाध्य हो गया। स्पष्ट रूप से दुर्योधन योग्य कूटनीतिज्ञ था, पर उसका कपटपूर्ण राजनीतिक शिष्टाचार उस भय का गोपन नहीं कर सका, जो उसे पाण्डवों के सैन्यव्यूह को देख कर प्राप्त हुआ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

अनुवाद

हे आचार्य। अपने बुद्धिमान् शिष्य, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार रचित पाण्डवों की इस महान् सेना का अवलोकन कीजिए।।३।।

तात्पर्य

कुशल राजनीतिज्ञ दुर्योधन ब्राह्मणश्रेष्ठ सेनाधिपति द्रोणाचार्य के दोषों को इगित करना चाहता था। अर्जुन के श्वसुर (द्रौपदी के पिता) राजा द्रुपद और द्रोण मे परस्पर राजनीतिक द्वेष था। इस कारण द्रुपद ने एक महायज्ञ का आयोजन करके द्रोणाचार्य का वध करने मे समर्थ पुत्र की उत्पत्ति का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। द्रोण यह भलीभाँति जानते थे, पर फिर भी जब द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न युद्ध-शिक्षा के लिए उनकी शरण में आया तो उदार विप्र द्रोण ने उस पर अपने सम्पूर्ण युद्ध-रहस्य उद्घाटित करने मे तनिक भी सकोच नही किया। अब, कुरुक्षेत्र के युद्ध मे धृष्टद्युम्न ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया एव द्रोणाचार्य से प्राप्त विद्या के आधार पर उसी ने पाण्डव सेना की व्यूह-रचना की। दुर्योधन ने द्रोणाचार्य की इस त्रुटि का निर्देश किया, जिससे वे युद्ध मे सजग और दृढ़ रहें। उपरोक्त कथन से उसका यह भी अभिप्राय है कि युद्ध में अपने स्नेहभाजन शिष्यों (पाण्डवों) के प्रति वे कही इसी प्रकार दयाभाव न दिखा बैठे। अर्जुन विशेष रूप से द्रोणाचार्य का सर्वाधिक प्रिय एव प्रतिभावान् शिष्य था। दुर्योधन ने चेतावनी दी कि युद्ध में ऐसी उदारता का व्यवहार परिणाम मे पराजयकारी सिद्ध होगा।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

अनुवाद

इस पाण्डव सेना में भीम-अर्जुन के समान अनेक महान् धनुर्धारी शूरवीर योद्धा हैं, जैसे महारथी सात्यकि, विराट तथा द्रुपद आदि।।४।।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः।।५।।

अनुवाद

इनके अतिरिक्त, धृष्टकेतु, चेकितान, काशीराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, शैब्य, आदि महान् नरश्रेष्ठ एव पराक्रमी योद्धा भी इस सेना में हैं।।५।।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

अनुवाद

पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं।।६।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

अनुवाद

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! आपके जानने के लिए अपने सैन्य-बल के योग्य सेनापतियों का भी मै वर्णन करता हूँ।।७।।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

अनुवाद

हमारी सेना में स्वयं आप, पितामह भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा आदि हैं; ये सभी संग्राम मे सदा विजयी रहे हैं।।८।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

अनुवाद

अन्य अनेक शूरवीर भी मेरे लिए प्राणों की आहुति देने को उद्यत है। वे सभी विविध शस्त्रों से सुसज्जित है और युद्ध-कला में निपुण है।।९।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

अनुवाद

पितामह भीष्म द्वारा भलीभाँति संरक्षित हमारा सैन्यबल निस्सन्देह अपार है, जबकि भीम द्वारा सावधानीपूर्वक रक्षित पाण्डवों का सैन्यबल अत्यन्त सीमित है।।१०।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे दुर्योधन ने दोनों सेनाओं के बल की तुलना की है। उसकी धारणा मे सब से अधिक अनुभवी सेनानायक पितामह भीष्म द्वारा विशेष रूप से सरक्षित होने से उसका सैन्यबल अपार है। दूसरी ओर, पाण्डवों का सैन्यबल अत्यन्त सीमित है, क्योंकि उसका नेतृत्व अल्प अनुभवप्राप्त भीम कर रहे हैं, जो भीष्म की तुलना मे तृणतुल्य है। दुर्योधन भीम के प्रति सदा ईर्ष्याभाव से ग्रस्त रहता था, क्योंकि वह यह भलीभाँति जानता था कि उसकी मृत्यु केवल भीम के हाथ ही हो सकेगी। परन्तु इस समय स्वपक्ष मे भीम से कही उत्कृष्ट सेनापति भीष्म की उपस्थिति को देखते हुए दुर्योधन का विश्वास है उसकी विजय पूर्ण रूप से निश्चित है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

अनुवाद

अतएव सैन्य-व्यूह में सामरिक महत्त्व के अपने-अपने स्थानों पर स्थित रहते हुए आप सभी पितामह भीष्म से पुरा सहयोग करें।।११।।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

अनुवाद

इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहे दुर्योधन के इन वचनों को सुनकर कौरवों के वृद्ध एवं प्रतापी पितामह भीष्म ने उसे हर्षित करते हुए सिंह-गर्जन के समान उच्च स्वर से शखनाद किया।।१२।।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

अनुवाद

इसके अनन्तर शंख, नगारे, ढोल, मृदंगादि सहसा एक ही साथ बज उठे; उनका वह स्वर अति भयकर हुआ।।१३।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।।१४।।

अनुवाद

दूसरी ओर, श्वेत घोडों से युक्त महिमामय रथ पर विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन ने अपने दिव्य शंखों का वादन किया।।१४।।

तात्पर्य

भीष्मदेव द्वारा बजाये गये शंख की अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के शखों को **दिव्य** कहा गया है। अलौकिक शखो के नाद से स्पष्ट है कि विपक्षी कौरव दल की विजय की कोई सम्भावना नही, क्योकि भगवान् श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया है। **जयस्तुपाण्डुपुत्राणां येषां पक्षे जनार्दनः**—जय सदा पाण्डव जैसे धर्मात्माओ का ही वरण करती है, क्योंकि उन्हे भगवान् श्रीकृष्ण का समाश्रय प्राप्त रहता है'। श्रीभगवान् जिस देश-काल में विराजमान रहते हैं, लक्ष्मी भी वहाँ अवश्य निवास करती है, क्योकि वह अपने स्वामी की नित्य अनुगामिनी है। अत भगवान् श्रीकृष्ण (श्रीविष्णु) के शखनाद से प्रकट हो रहा है कि विजय एव श्री अर्जुन की प्रतीक्षा कर रही है। इसके अतिरिक्त, जिस रथ मे दोनो सखा विराजमान हैं, वह अर्जुन को अग्निदेव ने प्रदान किया था' इस कारण वह रथ त्रिभुवन-दिग्विजय करने मे समर्थ है।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पाञ्चजन्य नामक शख का वादन किया तथा अर्जुन ने देवदत्त शख बजाया। अतिमानवीय कर्म करने वाले अतिभोजी भीम ने पौण्ड्र नामक शंख की भंयकर ध्वनि की।।१५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण को **हृषीकेश** कहा गया है, क्योकि वे सम्पूर्ण इन्द्रियो के स्वामी है। जीव उनके भिन्न-अश हैं, अत जीवों की इन्द्रियाँ भी उनकी इन्द्रियो की भिन्न-अंश है। निर्विशेषवादी जीवो की इन्द्रियों का कारण बताने मे असमर्थ हैं। इसीलिए वे सदा जीवो को इन्द्रियरहित अथवा निर्विशेष कहने को उत्कण्ठित रहते हैं। यथार्थ मे सब जीवो के अन्तर्यामी श्रीभगवान् ही उनकी इन्द्रियो का निर्देशन करते है। अपने प्रति जीव की शरणागति के अनुपात में वे उसका नियन्त्रण करते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त की इन्द्रियो का तो वे प्रकट रूप से सचालन करते है, जैसे कुरुक्षेत्र की इस युद्धभूमि में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की

चिन्मय इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण कर रहे हैं। इसलिए उन्हें **हृषीकेश** सम्बोधित किया गया है। श्रीभगवान् की विविध रसमयी लीलाओं के अनुसार उनके विविध नाम है। उदाहरणार्थ उन्होंने मधु नामक दैत्य का वध किया, इसलिए मधुसूदन कहलाये; गायों एव इन्द्रियों को रसानन्द का आस्वादन कराते हैं, इसलिए गोविन्द हैं, वसुदेव के पुत्ररूप में प्रकट होने के कारण वासुदेव नाम से प्रख्यात हैं; देवकी को माता स्वीकार करने से देवकीनन्दन कहलाए; श्रीधाम वृन्दावन में अपनी बाललीला का यशोदा मैय्या को आस्वादन कराया, इसलिए उनका यशोदानन्दन नाम हुआ तथा सखा अर्जुन का सारथ्य करने से उन्हें पार्थसारथी कहा गया। इसी प्रकार कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि मे अर्जुन के मार्गदर्शक के रूप में उनका एक नाम हृषीकेश है।

अर्जुन को इस श्लोक में **धनंजय** कहा गया है, क्योंकि नाना यज्ञो के लिए विपुल धनराशि के उपार्जन में उसने अपने अग्रज राजा युधिष्ठिर की सहायता की थी। इसी भाँति बहुभोजन तथा हिडिम्बासुर वध जैसे अतिमानवीय कार्यकलाप करने वाले भीम को **वृकोदर** कहा जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् तथा पाण्डव दल के अन्यान्य पुरुषो द्वारा विशिष्ट शखो का वादन स्वपक्षी सेनाओं के लिए अत्यन्त उत्साहवर्धक था। विपक्ष में इस वैशिष्ट्य का अत्यन्त अभाव था । परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीदेवी लक्ष्मी भी वहाँ विराजमान नहीं। अतएव युद्ध में कौरवों की पराजय पूर्वनिश्चित है—शखनाद ने इसी सन्देश का उदघोष किया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

अनुवाद

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख बजाया और नकुल-सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक नाम वाले शंखों का वादन किया। महान् धनुर्धारी काशी-राज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र तथा सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) आदि, इन सभी ने हे राजन्! अपने-अपने शख बजाये।।१६-१८।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्।।१९।।

अनुवाद

शंखों के उस तुमुल घोष ने आकाश तथा पृथ्वी को शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय को विदीर्ण कर दिया।।१९।।

तात्पर्य

दुर्योधन के पक्षपाती भीष्म आदि योद्धाओं के शंखनाद का पाण्डवो पर कुछ भी प्रभाव पड़ा हो, ऐसी किसी घटना का वर्णन नहीं हुआ है। परन्तु इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि पाण्डव-सैन्यसकुल के शंखनाद से धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय विदीर्ण हो गए। इसमें हेतु है पाण्डवों का अपना पराक्रम और इससे भी अधिक, भगवान् श्रीकृष्ण में उनका अटूट विश्वास। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण के शरणागत भक्तों के लिए परम विपत्ति में भी भय का कोई कारण नहीं हो सकता।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।।२०।।

अनुवाद

हे राजन्! उस समय श्रीहनुमान्-चिन्ह से युक्त ध्वजा वाले अपने रथ में स्थित पाण्डुपुत्र अर्जुन धृतराष्ट्र पुत्रों को देखता हुआ धनुष धारण कर बाण चलाने के लिए कटिबद्ध हुआ। हे राजन्! उसी समय अर्जुन ने भगवान् हृषीकेश (श्रीकृष्ण) से ये वचन कहे।।२०।।

तात्पर्य

युद्ध का उपक्रम होने ही वाला है। पूर्वोक्त वाक्य से स्पष्ट है कि जिन पाण्डवों को युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण से साक्षात् मार्गदर्शन प्राप्त है, उनकी कल्पनातीत सैन्य-व्यवस्था को देखकर धृतराष्ट्रपुत्र प्रायः हतोत्साहित हो चुके हैं। अर्जुन की ध्वजा पर श्रीहनुमान् जी का चिन्ह भी विजय का मंगलमय प्रतीक है, क्योंकि हनुमान् जी ने राम-रावण युद्ध में भगवान् राम की सहायता की थी, जिससे श्रीराम की उल्लासमयी त्रिभुवन-विदित विजय हुई। इस समय राम एवं हनुमान् दोनों ही अर्जुन के रथ पर उसकी सहायता के लिए विराजमान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं राम हैं और जहाँ भी

भगवान् राम विराजमान रहते हैं, वहाँ उनके नित्य दास हनुमान् जी और नित्य अर्धांगिनी लक्ष्मीदेवी सीता जी भी अवश्य निवास करती हैं। अत. अर्जुन के लिए शत्रुभय का कोई कारण नही है। इससे भी अधिक, इन्द्रियों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का मार्गदर्शन करने को स्वयं उपस्थित हैं, जिससे अर्जुन को युद्ध सम्बन्धी सम्पूर्ण सद्परामर्श अनायास उपलब्ध रहेगा। अपने नित्य भक्त के लिए श्रीभगवान् द्वारा नियोजित ऐसी मंगलमयी स्थिति में निश्चित विजय के लक्षण सन्निहित रहते हैं।

अर्जुन उवाच।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे अच्युत! मेरे रथ को दोनो सेनाओ के मध्य मे स्थापित कर दीजिए, जिससे यहाँ उपस्थित इन सब युद्ध के अभिलाषी योद्धाओ को मैं देख सकूँ, जिनके साथ इस महासंग्राम मे मुझे संघर्ष करना है।।२१-२२।।

तात्पर्य

साक्षात् स्वय भगवान् होते हुए भी श्रीकृष्ण स्वरूपभूता अहैतुकी करुणा से अभिभूत होकर अपने सखा की सेवा मे सलग्न है। भक्तों के लिए उनके स्नेह मे कभी न्यूनता नही आती। इसी से अर्जुन ने यहाँ उन्हे **अच्युत** नाम से सम्बोधित किया है। सारथी के रूप मे उन्हे अर्जुन का आज्ञापालन करना था। परन्तु इस प्रसग मे भी उन्होंने कोई सकोच नही किया। इसीलिए वे **अच्युत** कह गये हैं। भक्त के लिए सारथ्य कर्म करने पर भी उनकी सर्वोच्च महिमामयी स्थिति पूर्ववत् अक्षुण्ण बनी रही। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति मे वे पुरुषोत्तम समग्र इन्द्रियो के स्वामी. हृषीकेश है। वस्तुत श्रीभगवान् और उनके सेवक का परस्पर सम्बन्ध अतिशय मधुरिमामय एव दिव्य है। सेवक अपने सेव्य भगवान् की सेवा मे सदा प्रस्तुत रहता है। इसी भाँति भगवान् भी ऐसे सुयोग के लिए नित्य उत्कण्ठित रहते है जब वे भक्त की सेवा कर सकें। स्वय आज्ञा देने की अपेक्षा अपने शुद्ध भक्त को आज्ञादाता का गौरवमय पद प्रदान कर उससे आज्ञा ग्रहण करने में श्रीभगवान् को विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। ईश्वररूप मे वे सबके स्वामी है, और उन्हे आज्ञा देने की सामर्थ्य किसी में भी नही है। पर जब शुद्ध भक्त उन्हे आज्ञा देता है, तो नित्य निरन्तर अच्युत रहने वाले

उन प्रभु को चिन्मय आनन्दरस-निर्यास का आस्वादन सुलभ हो जाता है।

शुद्ध भक्त होने के कारण अर्जुन को बन्धु-बान्धवों से युद्ध करना अभीष्ट नहीं था। किन्तु शान्ति-सन्धि न करने विषयक दुर्योधन की हठधर्मी ने उसे युद्धभूमि में उतरने को बाध्य कर दिया। अतएव वह यह जानने के लिए बड़ा उत्सुक है कि वहाँ कौन-कौन महारथी उपस्थित है। यद्यपि युद्धभूमि में किसी सन्धि-प्रस्ताव की कोई सम्भावना नही है, परन्तु उसे उनका पुन निरीक्षण करना इष्ट है, यह देखने के लिए कि एक सर्वथा अवाँछनीय युद्ध के लिए वे कितने उद्यत हैं।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

अनुवाद

तथा दुर्बुद्धि दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए युद्ध की इच्छा से यहाँ एकत्रित हुए इन योद्धाओ को मैं देखूँगा।।२३।।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।

अनुवाद

संजय ने कहा, हे भरतवशी धृतराष्ट्र! अर्जुन द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किए जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उस उत्तम रथ को दोनो सेनाओ के मध्य में स्थापित कर दिया।।२४।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।२५।।

अनुवाद

भीष्म, द्रोण और विश्व के अन्य सभी राजाओं के सामने भगवान् हृषीकेश ने कहा कि हे पार्थ! यहाँ एकत्रित हुए इन सब कौरवो को देख।।२५।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण, जो जीवमात्र के अन्तर्यामी हैं, अर्जुन की मनःस्थिति को

समझ गए। इस संदर्भ मे **हृषीकेश** शब्द उनकी सर्वज्ञता का सूचक है तथा अर्जुन के लिए प्रयुक्त **पार्थ** शब्द भी इसी प्रकार सारगर्भित है। श्रीकृष्ण अपने सखा को यह सूचित करना चाहते हैं कि उन्होंने उसका सारथ्य इसीलिए स्वीकार किया, कि वह उनकी बुआ कुन्ती (पृथा) का पुत्र है। परन्तु 'कौरवो का अवलोकन कर'—यह कहने से श्रीकृष्ण का क्या अभिप्राय है? क्या अर्जुन युद्ध से उपरत हो जाना चाहता है ? श्रीकृष्ण को बुआ कुन्ती के पुत्र से ऐसी आशा नहीं थी। इस विधि से मित्रोचित परिहास में भगवान् ने अर्जुन की मनःस्थिति की पूर्वसूचना दी है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।।२६।।

अनुवाद

अर्जुन ने उन दोनों दलों की सेनाओ मे खड़े हुए पितृतुल्य गुरुजनों, पितामहो, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पौत्रों, मित्रों, श्वसुरों और सुहृदों को भी देखा।।२६।।

तात्पर्य

अर्जुन को युद्धभूमि मे सभी सम्बन्धियो का दर्शन हुआ। उसने पितृतुल्य भूरिश्रवा आदि, पितामह भीष्म एवं सोमदत्त, आचार्य द्रोण तथा कृप, शल्य और शकुनी आदि मामाओं दुर्योधन आदि भाइयों, लक्ष्मण आदि पुत्रो, अश्वत्थामा आदि मित्रों तथा कृतवर्मा आदि सुहृदों को देखा। उसने उन संकुलों को भी देखा जिनमें उसके बहुत से मित्र थे।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।।२७।।

अनुवाद

बन्धु-बान्धवो के इन सब वर्गो को देखकर करुणा से अत्यन्त आक्रान्त हुआ अर्जुन इस प्रकार बोला।।२७।।

अर्जुन उवाच ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।।२८।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! युद्ध के लिए सम्मुख खड़े हुए इस स्वजन-समुदाय को देखकर मेरे शरीर के अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख भी सूखा जाता है।।२८।।

तात्पर्य

यथार्थ भगवद्भक्त सम्पूर्ण दैवी गुणावली से नित्य युक्त रहता है। दूसरी ओर अभक्त चाहे विद्या एव सभ्यता की प्राकृत योग्यताओं में कितनी भी प्रगति कर ले, पर उस में कोई दैवी गुण नही होता। इस कारण, युद्धभूमि मे बन्धु-बाधवो को देखते ही अर्जुन उन परस्पर युद्ध की इच्छा वालो पर दयार्द्र हो उठा। अपने सैनिकों के प्रति तो उसकी सहानुभूति पूर्व से थी ही, अब शत्रुपक्ष के सैनिकों की आसन्न मृत्यु को देखते हुए वह उन पर भी द्रवित हो गया। निकटवर्ती महाविनाश की कल्पना से उसके अंगों में कंम्प होने लगा और मुख सूख सा गया। वहाँ पर समवेत योद्धाओं की युद्ध-भावना को देखकर उसे महान् विस्मय हुआ। प्राय· सम्पूर्ण कुल, सभी कुटुम्बी उससे युद्ध करने आए थे। इससे दयामय भक्त अर्जुन करुणा से द्रवित हो उठा। यद्यपि यहाँ उल्लेख नहीं है, परन्तु यह सहज अनुमान का विषय है कि अर्जुन के मुख का सूखना और अगों में कम्पन ही नही हो रहा था, वह दयाजन्य अश्रुविमोचन भी कर रहा था। उसमें इन लक्षणों के प्रादुर्भाव का कारण दौर्बल्य न होकर हृदय की·कोमलता है, जो शुद्ध भगवद्भक्त का एक प्रधान लक्षण है। इसी हेतु श्रीमद्भागवत में उल्लेख है.—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।

भगवान् श्रीकृष्ण के निष्किचन भक्त में सभी दैवी गुणों का नित्य निवास रहता है। अभक्त मे तो केवल तुच्छ प्राकृत गुण ही रहते है, क्योंकि मनोरथो के पीछे धावन करते रहने से वह अवश्य माया के प्रति आकृष्ट हो जाता है। (श्रीमद्भागवत ५.१८.१२)

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं संसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।।२९।।

अनुवाद

मेरे सम्पूर्ण शरीर में कम्प तथा रोमांच हो रहा है; गाण्डीव धनुष हाथ से गिरा जाता है और त्वचा भी जलती है।।२९।।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।।३०।।

अनुवाद

यहाँ और अधिक खड़े रहने में भी मैं समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि अपने को भूलता सा जा रहा हूँ तथा मेरा मन भी भ्रमित हो रहा है। हे केशव! भविष्य में भी मुझे केवल अमंगल ही अमंगल दृष्टिगोचर होता है।।३०।।

तात्पर्य

अति अधीर होने से अर्जुन युद्ध-भूमि में स्थित रहने में असमर्थ हो गया। यही नहीं, मन की दुर्बलतावश उसे अपना विस्मरण सा होता जा रहा था। विषय मे प्रबल आसक्ति मनुष्य को मोहमय स्थिति में पहुँचा देती है। **भयं द्वितीयाभिनिवेशतः**, जो प्राकृत परिस्थितियो के अत्यधिक वशीभूत रहते है उन मे ही ऐसा भय और अभिनिवेश होता है। अर्जुन को युद्धभूमि मे केवल दु ख की प्रतीति हो रही थी, मानो शत्रु-विजय करने पर भी वह प्रसन्न नहीं हो सकेगा। **निमित्त** शब्द अर्थपूर्ण है। जीवन में निराशा ही निराशा देखने पर मनुष्य विचार करता है, 'मैं यहाँ क्यों हूँ?' वस्तुत. प्रत्येक प्राणी केवल अपने में और अपने स्वार्थ में रुचि रखता है। परम पुरुष श्रीकृष्ण में किसी की भी रुचि नही है। अर्जुन से यह आशा थी कि वह अपने स्वार्थ की उपेक्षा करके भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा का अनुसरण करेगा, जो प्राणीमात्र का वास्तविक स्वार्थ है। बद्धजीव इस सत्य को भूल जाता है और इसी कारण सासारिक दुःख भोगता है। अर्जुन का विचार है कि युद्ध मे विजय भी उसके लिए शोक का ही कारण सिद्ध होगी।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।।३१।।

अनुवाद

युद्ध में स्वजनो का वध करने से मुझे कुछ भी श्रेयप्राप्ति होती दिखाई नहीं देती, और न ही हे गोविन्द! युद्ध से प्राप्त होने वाले विजय, राज्य अथवा सुख की मुझे इच्छा ही है।।३१।।

तात्पर्य

यह जाने बिना कि उनका वास्तविक स्वार्थ भगवान् श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) में है, सुख की कामना से प्रेरित हुए बद्ध जीव देह के सम्बन्धों में ही आसक्त रहते हैं। वे मोहवश भूल जाते हैं कि प्राकृत सुख के स्रोत भी श्रीकृष्ण हैं। प्रतीत होता है कि

अर्जुन को तो क्षात्र-धर्म का भी विस्मरण हो गया है। शास्त्र के अनुसार केवल दो प्रकार के व्यक्ति जाज्वल्यमान सूर्यमण्डल में प्रविष्ट होने के योग्य हैं—एक श्री कृष्ण की आज्ञानुसार युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए क्षत्रिय और दूसरे पूर्णरूप से भगवद्भक्ति-परायण संन्यासीगण। सम्बन्धियों की तो बात ही क्या, अर्जुन तो अपने शत्रुओ को भी मारने से पराङ्मुख हो रहा है। उसका विश्वास है कि बान्धवों का वध करने से उसके जीवन में सुख का अत्यंत अभाव हो जायगा। अतः वह युद्ध नहीं करना चाहता, वैसे ही जैसे कोई तृप्त व्यक्ति भोजन बनाने में प्रवृत्त नहीं होता। वरन्, उसने वनगमन करके एकान्त में निराशा भरा जीवन बिताने का निश्चय किया है। क्षत्रिय होने के कारण अपने निर्वाह के लिए उसे एक राज्य चाहिए . क्योंकि क्षत्रियों के लिए अन्य कोई कार्य उचित नहीं है। पर अर्जुन का तो कोई राज्य नहीं है। उसके लिए राज्य-प्राप्ति का एकमात्र साधन भाइयों से युद्ध कर अपना पैतृक राज्य पुनः हस्तगत करना है। परन्तु ऐसा करना उसे अभीष्ट नही। इस सब परिस्थिति को देखते हुए वह अपने को वन में जाकर निराशामय एकान्त वास करने के योग्य समझता है।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।।३२।।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।।३३।।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छमि घ्नतोऽपि मधुसूदन।।३४।।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।।३५।।

अनुवाद

हे गोविन्द। हमें राज्य, सुख अथवा जीवन से भी क्या प्रयोजन है, क्योंकि जिनके लिए हमें इन पदार्थों की इच्छा है, वे ही इस युद्ध में खडे हैं। हे मधुसूदन। गुरुजन, पितृजन, पुत्र, पितामह, मामा, श्वशुर, पौत्र, साले तथा अन्य सम्बन्धी भी धन तथा जीवन की आशा को त्याग कर युद्ध में मेरे सामने खड़े हैं। अपनी प्राणरक्षा के लिए भी इनके वध की इच्छा मैं नहीं कर सकता। हे जनार्दन। त्रिभुवन के राज्य तक के लिए मैं इन स्वजनो से युद्ध नहीं करना चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है।।३२-३५।।

तात्पर्य

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को **गोविन्द** कहा है, क्योंकि वे गायों तथा इन्द्रियों को समग्र रसानन्द का आस्वादन कराते हैं। इस शब्द के प्रयोग से अर्जुन ने यह संकेत किया है कि उसकी इन्द्रियाँ किस प्रकार तृप्त हो सकती हैं। श्रीगोविन्द का कार्य हमारी इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं है, किन्तु यदि हम उनकी इन्द्रियों को तृप्त करने का प्रयत्न करें तो हमारी इन्द्रियाँ अपने-आप तृप्त हो जायेंगी। विषयभोग के द्वारा अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा से प्रेरित हुआ जीव साधारणतया भगवान् तक को अपना आज्ञाकारी सेवक बनाना चाहता है। श्रीभगवान् जीवों की इन्द्रियों को यथायोग्य तृप्त करते भी हैं, पर उनकी इच्छानुसार नहीं। इसके विपरीत, जो भक्त निजेन्द्रियतृप्ति की कामना से मुक्त होकर श्रीगोविन्द की इन्द्रियो को ही तृप्त करने मे सलग्न रहते हैं, भगवत्कृपा से उनकी सर्वाभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। कुटुम्ब और बान्धवो के प्रति अर्जुन का प्रगाढ़ स्नेह है—उनके लिए उसकी स्वाभाविक करुणा के रूप में यह सत्य यहाँ आशिक रूप से प्रकट हुआ है। यही कारण है कि वह युद्ध से मुख मोड रहा है। कोई भी मनुष्य अपने वैभव का बन्धु-बान्धवों के आगे आडंबर करना चाहता है, पर अर्जुन को भय है कि उसके सब बांधव युद्ध में मारे जायेंगे, जिससे विजयी होकर अपने वैभव को वह उनके साथ नहीं भोग सकेगा। विषयी मनुष्य इसी प्रकार सोचता है। किन्तु पारमार्थिक जीवन का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। भक्त केवल भगवत्-इच्छा की पूर्ति करना चाहता है। अतः भगवत्-इच्छा होने पर वह भगवत्सेवा के लिये सारा वैभव स्वीकार कर सकता है और श्रीभगवान् की इच्छा न होने पर उसे तृण भी नहीं स्वीकार करना चाहिए। अर्जुन को स्वजन-वध करना अभीष्ट नहीं। यदि उनके वध की कोई आवश्यकता हो तो श्रीकृष्ण स्वय उनका वध करें, ऐसा उसका भाव है। सम्प्रति, उसे नही पता कि उनके युद्धभूमि में आने से पूर्व ही श्रीकृष्ण उन सबका वध कर चुके है, उसे तो केवल निमित्त-मात्र बनना है। इस रहस्य का उद्घाटन अगले अध्यायों में होगा। स्वभावसिद्ध भक्त अर्जुन को अपने अत्याचारी भाइयों तक का प्रतिकार करना अप्रिय लग रहा है, परन्तु श्रीभगवान् की योजना है कि उन सबका वध हो। भगवद्भक्त पापाचारियों का भी प्रतिकार नहीं करता, परन्तु श्रीभगवान् को दुष्टो द्वारा भक्त का उत्पीड़न सहन नही होता। वे अपने अपराधी को तो क्षमा कर सकते हैं, पर भक्त का अपराधी उनके लिए कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। इसी कारण, यद्यपि अर्जुन दुष्टों को क्षमा करना चाहता है, पर भगवान् श्रीकृष्ण उनके वध के लिए कृतसंकल्प हैं।

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३६।।

अनुवाद

ऐसे आततायियों का वध करने पर भी हम पाप को ही प्राप्त होंगे। इसलिए **अपने बन्धु धृतराष्ट्र-पुत्रों की हत्या करना हमारे योग्य नहीं है। हे माधव! स्वजनों के** वध से हमें क्या लाभ होगा, ऐसा करने से हम किस प्रकार सुखी होंगे ?।।३६।।

तात्पर्य

वैदिक विधान के अनुसार आततायी छ प्रकार के होते है—(१) विष देने वाला, (२) घर मे अग्नि लगाने वाला, (३) शस्त्र से आक्रमण करने वाला, (४) धन अपहरण करने वाला, (५) दूसरे की भूमि पर अधिकार करने वाला तथा (६) स्त्री का अपहरण करने वाला। ऐसे आततायियो का सामने आते ही तुरन्त वध कर देना चाहिये, इससे पाप नहीं लगता। इस प्रकार आततायी को मारना साधारण मनुष्य के लिए योग्य हो सकता है, पर अर्जुन तो साधारण व्यक्ति नही है। वह सन्त-स्वभाव से युक्त है और इस कारण उनके साथ सन्तोचित व्यवहार करना चाहता है। परन्तु ऐसा सन्तपन क्षत्रिय के लिए नही। भाव यह है कि प्रशासन के उत्तरदायी अधिकारी को सन्त स्वभाव वाला तो होना चाहिए, पर भीरु नहीं। उदाहरणार्थ, भगवान् राम की साधुता के कारण समस्त जनता उनके राज्य (रामराज्य) मे रहने के लिए आतुर थी, पर श्रीराम ने कभी कायरता नहीं दिखाई। अपनी धर्मपत्नी सीता देवी का अपहरण करने वाले आततायी रावण को उन्होंने ऐसा दण्ड दिया, जो आज तक विश्व-इतिहास मे अद्वितीय है। परन्तु अर्जुन के सदर्भ मे एक बड़ा अन्तर है। यहाँ आततायी है उसके अपने पितामह, आचार्य, मित्र, पुत्र, पौत्र आदि। यह देखते हुए अर्जुन ने निश्चय किया है कि उन्हें साधारण आततायी को दिया जाने वाला घोर दण्ड देना उसके उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, सत्पुरुषों के लिए क्षमादान का आदेश है और ऐसा शास्त्रीय विधान राजनीतिक अनिवार्यता से अधिक महत्त्व रखता है। इसलिए उसने विचार किया कि राजनीतिक कारणो से स्वजनों का वध करने की अपेक्षा धर्म और सदाचार की दृष्टि से उन्हें क्षमा करना अधिक श्रेष्ठ है। क्षणिक दैहिक सुख के लिए ऐसी हत्या करना उसे श्रेयस्कर नही लगा। अन्त में जब राज्य अथवा उससे प्राप्त होने वाला सुख भी नित्य नहीं है, तो स्वजनों का वध करके अपने जीवन एव शाश्वत् मुक्ति को वह सकट में क्यों डाले? अर्जुन का श्रीकृष्ण को **माधव** अर्थात् 'श्रीपति' सम्बोधित करना भी इसी सन्दर्भ में अर्थसगत

है। उन्हे अर्जुन को ऐसे कार्य में प्रेरित नही करना चाहिए, जिसके परिणाम में श्रीहानि हो। परन्तु भक्त के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, श्रीकृष्ण किसी का भी कभी अनिष्ट नही करते।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३७।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३८।।

अनुवाद

हे जनार्दन! यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल-नाश करने में अथवा मित्र-द्रोह मे कोई दोष नही देखते, किन्तु उस पाप को जानने वाले हम इस कर्म मे क्यो प्रवृत्त हो।।३७-३८।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।३९।।

अनुवाद

कुल का नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार शेष कुल भी अधर्म में प्रवृत्त हो जाता है।।३९।।

तात्पर्य

वर्णाश्रम व्यवस्था मे ऐसे अनेक परम्परागत धार्मिक नियम है, जो सम्पूर्ण कुल के अभ्युदय तथा दैवीगुण-प्राप्ति मे सहायक सिद्ध होते है। कुल में जन्म से मृत्यु तक होने वाले इन शुद्धि कृत्यो का दायित्व वयोवृद्धो पर रहता है। वृद्धो की मृत्यु होने पर कुल के ऐसे पारम्परिक शुद्धि कर्म लुप्त हो सकते है। इससे यह आशका रहती है कि शेष बचे तरुण अधर्ममय व्यसनों में प्रवृत्त होकर कही मुक्ति-लाभ से वंचित न रह जायें। अतएव किसी भी कारण से कुल के वयोवृद्धों का वध करना योग्य नहीं है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।४०।।

अनुवाद

हे कृष्ण! कुल में अधर्म के बढ जाने पर कुल की स्त्रियाँ भी दूषित हो जाती है। हे वृष्णिवशी! इस प्रकार स्त्रियो के पतन से वर्णसकर की उत्पत्ति होती

है।।४०।।

तात्पर्य

मानव-समाज में शान्ति, वैभव तथा परमार्थ का प्रधान आधार सदाचारी सन्तान है। वर्णाश्रम-धर्म का इस प्रकार प्रणयन किया गया है जिससे कि भगवत्प्राप्ति के पथ में राज्य एवं समाज की उन्नति के लिए समाज में सदाचारी सन्तान का प्राधान्य रहे। ऐसी सन्तान का प्रादुर्भाव स्त्रीवर्ग के सतीत्व तथा निष्ठा पर निर्भर करता है। जिस प्रकार बालक सुगमता से कुमार्ग पर चले जाते हैं, उसी भाँति स्त्रियाँ भी अत्यधिक पतनोन्मुखी होती है। अत बालकों और स्त्रियों दोनों को कुल के वृद्धों का सरक्षण अपेक्षित है। विविध धार्मिक कृत्यों में सलग्न स्त्रियाँ उपपतित्व के भ्रष्ट-पथ के उन्मुख नहीं होंगी। चाणक्य पडित के अनुसार स्त्रियाँ प्राय· अल्पज्ञ होती है, इसलिए उन पर अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। उन्हें धार्मिक कृत्यरूप कुलधर्मों में ही नित्य सलग्न रहना चाहिए। इस प्रकार उनकी भक्ति तथा सतीत्व से वर्णाश्रम-धर्म के योग्य सदाचारी सन्तान की उत्पत्ति होगी। वर्णाश्रम-धर्म के विनाश से स्त्रियाँ स्वभावत. पराए पुरुषों से सम्बन्ध रखने में स्वतन्त्र हो जाती है। इस व्यभिचार से वर्णसकर की उत्पत्ति होती है। दायित्वशून्य व्यक्ति भी समाज मे व्यभिचार को प्रेरित करते हैं और इस प्रकार, अवाँछनीय वर्णसकर मानवजाति को परिपूरित कर युद्ध, महामारी तथा महाविनाश की विपदा उपस्थित कर देते हैं।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४१।।

अनुवाद

वर्णसंकरों की वृद्धि से सम्पूर्ण कुल को और कुलघातियों को भी नरक की प्राप्ति होती है। ऐसे पतित कुलों मे पितरों के लिए पिण्डोदक क्रिया का लोप हो जाता है, जिससे उनके पितर भी गिर जाते है।।४१।।

तात्पर्य

सकाम कर्मों के विधि-विधान के अनुसार कुल के पितरों के लिए नियमित रूप से पिण्डोदक अर्पण करना आवश्यक है। यह अर्पण विष्णु-आराधना सहित किया जाता है, क्योकि श्रीविष्णु को अर्पित अन्न का भोजन सब प्रकार के पाप-बन्धनों से मुक्त कर देता है। पापकर्मवश पितरों को विभिन्न दु ख भोगने पडते है। कुछ को तो स्थूल प्राकृत देह की प्राप्ति भी नहीं होती, जिससे वे प्रेत योनि के सूक्ष्म शरीर में रहने का बाध्य हो जाते हैं। वशजों से प्रसाद का अश ग्रहण कर ये पितर प्रेत आदि

दुर्गतिमय योनियो से मुक्त हो जाते है। इस विधि से पितरो की सहायता करना कुलधर्म है और जो भक्ति के परायण नही है, वे तो इन कृत्यो का अनुष्ठान अवश्य ही करे। भक्तिनिष्ठ उत्तम भक्त के लिए ये आवश्यक नही है। केवल भगवद्भक्ति सहस्रों पितरो को सब प्रकार की दुर्गतियो से पूर्ण मुक्त कर सकती है। श्रीमद्भागवत मे उल्लेख है

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।

'जो पुरुष अन्य सब कर्तव्यो को त्याग कर दृढ़तापूर्वक मुक्तिदाता श्रीमुकुन्द की ही शरण ले लेता है, उसका देवताओ, ऋषियो, सब प्राणियो, स्वजनो, मानव-समाज और पितरों के प्रति कोई कर्तव्य अथवा ऋण शेष नहीं रहता।' (भा० ११ ५ ४१) भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति से सभी ऋणों का स्वत. विमोचन हो जाता है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४२।।

अनुवाद

कुलघातियो के इन दोषो से सभी शाश्वत् जातिधर्म तथा कुलधर्म नष्ट हो जाते है।।४२।।

तात्पर्य

सनातनधर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत मानव समाज के चार वर्णों तथा कुलधर्मों का प्रयोजन मानव को मुक्त कराना है। अत जब समाज के अनुत्तरदायी लोकनायक सनातनधर्म-परम्परा को विखण्डित कर देते है, तो समाज में विप्लव हो जाता है, जिससे जनता जीवन के लक्ष्य—श्रीविष्णु को भूल बैठती है। ऐसे नेत्रहीन लोकनायकों के अनुगामी पथभ्रष्ट होकर निश्चित विनाश की ओर ही अग्रसर होते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४३।।

अनुवाद

हे जनार्दन! मैने गुरुपरम्परा से सुना है कि कुलधर्म का विनाश करने वालो का नित्य नरक में वास होता है।।४३।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४४।।

अनुवाद

अहो! यह कैसा महान् आश्चर्य है कि राज्यसुख के लोभ से हम स्वजनवधरूप महान् पापकर्म करने को उद्यत हो रहे है।।४४।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४५।।

अनुवाद

धृतराष्ट्र-पुत्रो से युद्ध करने की अपेक्षा यदि मुझ शस्त्ररहित और सामना न करने वाले को वे रण में मारे, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा।।४५।।

तात्पर्य

क्षात्र-युद्धनियमो के अनुसार यह परम्परा है कि जो शस्त्ररहित है अथवा युद्ध से पराङ्मुख हो गया है, उस शत्रु पर आक्रमण नही करना चाहिए। अपनी दुर्बोध स्थिति को देखते हुए अर्जुन ने निर्णय किया कि शत्रु का आक्रमण होने पर भी वह युद्ध नहीं करेगा। उसने इस बात को महत्त्व नहीं दिया कि शत्रुपक्ष युद्ध के लिए कितना उद्यत है। इन सब लक्षणों का कारण है उसके हृदय में भक्तियोग से उत्पन्न दयार्द्रता।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४६।।

अनुवाद

संजय ने कहा, रणभूमि मे इस प्रकार कहकर शोक से व्याकुल चित्त वाला अर्जुन बाणसहित धनुष को त्याग कर रथ में बैठ गया।।४६।।

तात्पर्य

शत्रु-स्थिति का निरीक्षण करते समय अर्जुन अपने रथ पर खड़ा हुआ था। परन्तु सैन्य-निरीक्षण करके वह शोक से इतना अधिक अभिभूत हो गया कि धनुषबाण

को एक ओर रख कर फिर रथ में बैठ गया। इस प्रकार का भगवद्भक्ति-परायण दयार्द्र और सहृदय पुरुष निश्चय ही आत्मज्ञान की शिक्षा पाने के योग्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ।।

अथ द्वितीयोऽध्याय :

सांख्ययोग

(गीता के प्रतिपाद्य तत्त्व का सारांश)

सञ्जय उवाच।
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

अनुवाद

संजय ने कहा, उस करुणा और शोक मे मग्न हो रहे आँसुओं से पूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले अर्जुन से भगवान् श्रीमधुसूदन ने यह वचन कहा।।१।।

तात्पर्य

सांसारिक करुणा, शोक तथा अश्रुविमोचन—ये लक्षण उसी में प्रकट होते है, जो आत्मा के तत्त्व को नहीं जानता। शाश्वत् आत्मा के लिए दयाभाव ही स्वरूप-साक्षात्कार है। इस श्लोक में प्रयुक्त **मधुसूदन** शब्द गूढ़ अर्थ रखता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने मधु दैत्य का वध किया था। इसलिए अर्जुन चाहता है कि उसे अभिभूत करने वाले अज्ञान रूपी दैत्य का भी वे विनाश करें, जो उसके कर्तव्य-कर्म के मार्ग में

बाधा उपस्थित कर रहा है। करुणा का प्रयोग कहाँ करना उचित है, यह कोई नहीं जानता। डूबते मनुष्य के वस्त्रों के लिए करुणा करना बुद्धिहीनता होगी; स्थूल पाँचभौतिक देह रूपी बाह्य परिधान की रक्षा करने से अज्ञान-सागर में पतित जीव को बचाया नहीं जा सकता। ऐसा न जानकर जो बाह्य परिधान के लिए शोक करता है, वह शूद्र है। अर्जुन तो क्षत्रिय है, इसलिए ऐसा व्यवहार उसके योग्य नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण अज्ञानी जीव के शोक का छेदन करने में पूर्ण समर्थ हैं। यही कारण है कि उन्होंने भगवद्गीता का उपदेश किया। इस अध्याय में परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राकृत देह तथा आत्मा के तात्त्विक अध्ययन के द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार करने की शिक्षा दी है। अपने यथार्थ आत्म-स्वरूप की दृढ़ धारणा में स्थित होकर कर्म करने से यह अनुभूति हो सकती है।

श्रीभगवानुवाच।
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।२।।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! तुझे संग्राम की इस विषम स्थिति में यह अज्ञान किस कारण से प्राप्त हुआ? यह न तो उनके योग्य है, जो जीवन की श्रेष्ठ गरिमा को जानते हैं और न उच्च लोकों की प्राप्ति कराने वाला है, अपितु अपयश का कारण है।।२।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण साक्षात् **भगवान्** हैं। सम्पूर्ण गीता में उन्हें 'भगवान्' ही कहा गया है। 'भगवान्' उस परतत्त्व की अवधि हैं, जिसकी प्राप्ति सर्वव्यापक निर्विशेष ब्रह्म, प्राणीमात्र के हृदयव्यापी परमात्मा और भगवान्, ज्ञान की इन तीन श्रेणियों में होती है। श्रीमद्भागवत में इस अद्वय तत्त्व का वर्णन इस प्रकार है:

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

"तत्त्ववित् को परतत्त्व की अनुभूति 'ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्', ज्ञान के इन तीन स्तरों पर होती है, जिन में परस्पर अभेद है।" (श्रीमद्भागवत १.२.११) इन तीनों दिव्य तत्त्वों का स्वरूप सूर्य के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। सूर्य के भी तीन

पक्ष हैं—सूर्यज्योति, सूर्य का बाह्य रूप और स्वयं सूर्यलोक। सूर्यज्योति का ज्ञाता प्रारम्भिक विद्यार्थी है। वह ब्रह्माण्ड में व्याप्त सूर्यज्योति के अल्प ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाता है। ऐसे साधारण विद्यार्थी को परतत्त्व के केवल बाह्य स्वरूप अर्थात् निर्विशेष दीप्ति की अनुभूति होती है। उन्नति करके सौर-मण्डल के ज्ञान को प्राप्त कर लेना परतत्त्व के परमात्मा स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करना है। अन्त में सूर्यलोक के मध्य में प्रवेश कर जाना परतत्त्व के भगवत्-स्वरूप की प्राप्ति के समान है। इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि परतत्त्व के सब जिज्ञासुओं का लक्ष्य एक ही तत्त्व है, किन्तु भगवत्प्राप्त कृष्णभक्त ही सर्वोच्च ज्ञानी है। सूर्यज्योति, सूर्यमण्डल तथा अन्तरग सूर्यलोक को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। पर साथ ही, इन तीनों पक्षों के विद्यार्थी एक श्रेणी में नहीं आते।

संस्कृत शब्द **भगवान्** की विवेचना व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर ने की है। समग्र श्री, वीर्य, यश, रूप, ज्ञान तथा त्याग से युक्त परम पुरुष को **भगवान्** कहते हैं। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अत्यन्त धनी, वीर्यवान्, सुन्दर, यशस्वी, विद्वान् और त्यागी हैं। किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि वह समग्र श्री, वीर्य, आदि से युक्त है। एकमात्र श्रीकृष्ण ही यह उद्घोष कर सकते हैं; अतएव वे साक्षात् स्वय भगवान् हैं। ब्रह्म, शिव तथा नारायण सहित कोई जीव श्रीकृष्ण के समान पूर्ण षडैश्वर्यवान् नही है। इस कारण 'ब्रह्मसहिता' मे ब्रह्माजी का निर्णय है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। उनसे अधिक अथवा उनके समान कोई नही है, वे आदिपुरुष गोविन्द सब कारणो के परम कारण हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।।

'बहुत से पुरुष दिव्य गुणों से युक्त हैं, किन्तु अनुपमेय होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण परमोत्तम हैं। वे परम-पुरुष हैं; उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। वे आदिपुरुष गोविन्द ही सब कारणो के परम कारण है।' (ब्रह्मसहिता)

श्रीमद्भागवत मे नाना भगवत् अवतारों का उल्लेख है, परन्तु श्रीकृष्ण को सकल अवतारों का उद्गम, 'स्वयं भगवान्' कहा गया है·

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे।।

'यहाँ वर्णित सब अवतार श्रीभगवान् के अंश अथवा कलास्वरूप है, परन्तु श्रीकृष्ण तो स्वय भगवान् है।' (श्रीमद्भागवत १.३.२८)

अस्तु, श्रीकृष्ण परमात्मा एवं निर्विशेष ब्रह्म के भी उद्गम परात्पर आदिपुरुष भगवान् हैं।

स्वय भगवान् की उपस्थिति मे अर्जुन द्वारा स्वजनों के लिए शोक करना सर्वथा अयोग्य था। श्रीकृष्ण ने **कुतः** शब्द से इस पर अपना विस्मय अभिव्यक्त किया है। आर्य सस्कृति के सदस्य से यह आशा नही की जाती कि वह ऐसी पौरुषहीनता प्रकट करेगा। 'आर्य' शब्द जीवन की गरिमा को जानने वाले, भगवत्-परायण सस्कृति वाले पुरुषों के लिए प्रयुक्त होता है। विषयी नहीं जानते कि जीवन का लक्ष्य भगवान् विष्णु की प्राप्ति करना है। प्राकृत-जगत् के बाह्य-रूप पर मोहित होने के कारण वे मुक्ति-तत्त्व से अनभिज्ञ ही रहते हैं। भव-मुक्ति के ज्ञान से शून्य होने से ऐसे व्यक्ति 'अनार्य' कहलाते हैं। क्षत्रिय होते हुए भी युद्ध से पराङ्मुख होकर अर्जुन अपने नियत कर्तव्य से च्युत हो रहा था। अतएव उसकी इस भीरुता को अनार्योचित कहा गया। ऐसी कर्तव्य-विच्युति भगवत्प्राप्ति एवं सांसारिक यश-उपलब्धि में सहायक नहीं होती, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वजनों के लिए अर्जुन की उस तथाकथित करुणा का अनुमोदन नहीं किया।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।३।।

अनुवाद

हे पार्थ! इस अपकर्षकारी नपुसकता को मत प्राप्त हो यह तेरे योग्य नहीं है। हे परतप! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़ा हो।।३।।

अर्जुन उवाच।
कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन श्रीकृष्ण! मैं रणभूमि में भीष्म और द्रोणाचार्य आदि का किस प्रकार बाणों से विरोध कर सकता हूँ, क्योंकि ये दोनो ही मेरे पूज्य है।।४।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

अनुवाद

गुरुजनों का वध करके जीवित रहने की अपेक्षा तो इस ससार में भिक्षा-वृत्ति से जीवनयापन करना अधिक श्रेयस्कर होगा। अर्थलोलुप होने पर भी ये महानुभाव वरिष्ठ हैं। इनकी हत्या करने से हमारे भोग भी रुधिर से कलंकित हो जायेंगे।।५।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

अनुवाद

हम नही जानते कि हमारे लिये क्या श्रेयस्कर है, उन पर विजय प्राप्त करना या उनसे पराजित होना अथवा यह भी नही जानते कि युद्ध में हम जीतेंगे या हमको वे जीतेगे। जिनका वध करके हम जीवित भी नहीं रहना चाहते, वे ही धृतराष्ट्र-पुत्र इस रणभूमि मे लडने के लिए हमारे सामने खड़े हैं।।६।।

तात्पर्य

अर्जुन यह निश्चय नहीं कर पा रहा है कि वह क्षत्रिय के धर्मानुरूप युद्ध कर के अनावश्यक हिंसा का सकट उपस्थित होने दे अथवा युद्ध से उपरत होकर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करे। यदि वह शत्रु-विजय नही करता है तो भिक्षा ही उसके लिए जीवन-यापन करने का एकमात्र साधन रहेगा। साथ में, विजय भी निश्चित नही, दोनों दलों में से कोई भी विजयी हो सकता है। यदि उनकी विजय निश्चित भी होती (क्योंकि उनका पक्ष न्यायसगत है) तो भी युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के बिना पाण्डवों के लिये जीवित रहना अति कष्टसाध्य होगा। ऐसी परिस्थिति में वह भी प्रकारान्तर से पराजय ही होगी। अर्जुन के इस सम्पूर्ण विवेचन के निश्चित रूप से प्रामाणित होता है कि वह महाभागवत ही नहीं था, वरन् पूर्णतया प्रबुद्ध और जितेन्द्रिय भी था। राजकुल में जन्म लेने पर भी भिक्षा से निर्वाह करने का उसका विचार उत्कृष्ट अनासक्ति का परिचायक है। वह यथार्थ में सदाचारी था, जैसा कि इन गुणो से और अपने गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा में उसकी प्रगाढ़ निष्ठा से प्रकट है। इस सबसे अर्जुन सब प्रकार से मुक्ति के योग्य सिद्ध होता है। इन्द्रिय-निग्रह किये

बिना ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती तथा ज्ञान और भक्ति के बिना मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार विपुल लौकिक गुणों के अतिरिक्त अर्जुन इस सम्पूर्ण दैवी गुणावली से भी विभूषित है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

अनुवाद

प्रभो! कृपणता के कारण मैं स्वधर्म के सम्बन्ध मे संमोहित हो गया हूँ और सब धैर्य भी खो बैठा हूँ। इसलिए आपसे पूछता हूँ, मेरे लिये जो निश्चय किया हुआ श्रेयस्कर साधन हो, वह कहिये। मै आप का शरणागत शिष्य हूँ। अतएव कृपया मुझ को शिक्षा दीजिये।।७।।

तात्पर्य

यह प्रकृति का नियम है कि प्राकृत क्रियाओ की पूरी की पूरी व्यवस्था सब के लिये उद्वेग का ही स्रोत है। प्रतिपद पर व्याकुलता की ही प्राप्ति होती है। अतः जीवन की लक्ष्य-सिद्धि की यथार्थ शिक्षा के लिये प्रामाणिक गुरु के निकट जाना आवश्यक है। वैदिक शास्त्र जीवन के सम्पूर्ण अवाँछित उद्वेगों से मुक्ति के लिए आप्त सद्गुरु की शरण में जाने की आज्ञा देते है। अपने आप लगी दावाग्नि की भाँति संसार की व्यवस्था इस प्रकार की है कि हमारी इच्छा के विपरीत भी जीवन में उद्वेग अपने-आप उठते रहते है। दावाग्नि को कोई नही चाहता, फिर भी वह प्रज्वलित हो उठती है, जिससे हमे व्याकुलता होती है। इसी से वैदिक ज्ञान आज्ञा देता है कि व्यग्रता की निवृत्ति करने तथा समाधान की विद्या सीखने परम्परागत गुरु की शरण में जाय। सद्गुरु के आश्रित हुआ शिष्य सर्वज्ञ हो जाता है। इसलिए प्राकृत उद्वेगों में निमग्न न रहकर गुरु-शरण रूपी वैकुण्ठ का पादाश्रय अवश्य ग्रहण करे·—यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

संसार के उद्वेगों से कौन घिरा हुआ है? वह, जो जीवन के दुःखों के विषय मे नहीं जानता। गर्गोपनिषद् में ऐसे मनुष्य को 'कृपण' कहा गया है:

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'

'मानव देह को प्राप्त होकर भी जो जीवन के दुःखों को निवृत्त किए बिना

स्वरूप-साक्षात्कार की विद्या को जाने बिना शूकर-कूकर के समान मृत्यु समय इस संसार को त्याग कर जाता है, वह कृपण है।' यह मानव देह जीव की सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति है, इसके उपयोग से वह जीवन के दुःखों का समाधान कर सकता है। अतः जो इस सुयोग से यथेष्ट उपयोग नही लेता, वह कृपण है। इसके विपरीत ब्राह्मण वह है, जो बुद्धिमानी से इस देह का सदुपयोग कर जीवन के क्लेशों से मुक्त हो जाय।

देहात्मबुद्धि के कारण कृपण मनुष्य परिवार, समाज, देश आदि की अत्यधिक आसक्ति में ही अपना सारा समय नष्ट कर देता है। वह प्रायः 'त्वचा रोग' के आधार पर पारिवारिक जीवन अर्थात् कलत्र, पुत्र स्वजनों के प्रति बड़ा आसक्त रहता है। कृपण सोचता है कि वह अपने परिवार का मृत्यु से परित्राण कर सकता है अथवा उसके बन्धु-बान्धव ही कालपाश से उसकी रक्षा कर लेंगे। अपनी सन्तान की परिचर्या करने वाले अधम पशुओं में भी ऐसी स्वजनासक्ति दृष्टिगोचर होती है। अर्जुन बुद्धिमान् है, इसलिए जानता है कि स्वजनों के लिए उसका स्नेह और उन्हें मृत्यु से बचाने की उसकी इच्छा ही उसकी सम्पूर्ण व्यग्रता का कारण है। यह जानते हुए भी कि युद्ध-विषयक कर्तव्य उसकी प्रतीक्षा कर रहा है, वह कार्पण्य-दोष-वश कर्तव्य का पालन करने में असमर्थ सा हो गया। इसलिए अब परम गुरु भगवान् श्रीकृष्ण से निर्णय करने का आग्रह कर रहा है। वह श्रीकृष्ण का शिष्यत्व ग्रहण करता है; अब सख्यवार्ता नहीं करना चाहता। यथार्थ गुरु-शिष्य का वार्तालाप वास्तव में बड़ा गम्भीर होता है। इस समय अर्जुन भी सद्गुरु से गम्भीर वार्ता करना चाहता है। श्रीकृष्ण भगवद्गीता-विज्ञान के आदि गुरु हैं तथा अर्जुन प्रथम शिष्य है। अर्जुन ने गीता को जिस प्रकार हृदयगम किया, इसका उल्लेख स्वयं गीता में है। इस पर भी मूर्ख-शिरोमणि प्राकृत विद्वान् यह कहने की धृष्टता करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण की नहीं, अपितु 'श्रीकृष्ण में स्थित अजन्मा की ही शरण ग्रहण करनी चाहिये।' श्रीकृष्ण के आत्मा और देह मे भेद नहीं है—इस सिद्धान्त को न जानते हुए भी जो भगवद्गीता को समझने का प्रयास करता है, वह निस्सन्देह परम मूर्ख है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

अनुवाद

मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले इस महान

शोक को दूर कर सकें। स्वर्गीय देवताओं के समान भूमि के सार्वभौम निष्कण्टक राज्य की प्राप्ति होने पर भी मैं इस शोक को दूर नहीं कर सकूँगा।।८।।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

अनुवाद

संजय ने कहा, शत्रुविजयी अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से यह कहकर तथा फिर 'हे गोविन्द! मै युद्ध नही करूँगा', ऐसा कहकर चुप हो गया।।९।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

अनुवाद

हे भरतवशी धृतराष्ट्र! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनो सेनाओ के मध्य में उस शोकमग्न अर्जुन को हँसते हुए से यह वचन कहा।।१०।।

श्रीभगवानुवाच।
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! पांडित्यपूर्ण वचन बोलता हुआ भी तू उनके लिए शोक कर रहा है जो शोक के योग्य नही है। पर पण्डितजन तो जिन के प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नही गये हैं, उनके लिये भी शोक नही करते।।११।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने तत्काल गुरुपद ग्रहण कर लिया और शिष्य को परोक्ष रूप से मूर्ख कहकर उसका शासन किया। उन्होंने कहा कि हे अर्जुन! तू बोल तो पण्डितों के समान रहा है, परन्तु इतना भी नही जानता कि देहतत्त्व तथा आत्मतत्त्व के मर्म को जानने वाले पडितजन देह की जीवित अथवा मृत, किसी भी अवस्था के लिए शोक नही करते। जैसा अगले अध्यायों में वर्णन किया गया है, ज्ञान का अर्थ देह, आत्मा और उन दोनों के ईश्वर के तत्त्व को जानना है। अर्जुन का तर्क है कि राजनीति

अथवा समाजनीति की अपेक्षा धर्म का अधिक माहात्म्य है। परन्तु वह यह नही जानता कि आत्मा, देह तथा उनके ईश्वर का ज्ञान सामान्य धर्म से भी अधिक महत्त्व रखता है। उस ज्ञान को न जानने के कारण उसके लिए अपने को महापण्डित के रूप में प्रदर्शित करना उचित नही। अल्पज्ञतावश शोक के अयोग्य वस्तु के लिए भी वह अतिशय शोकाकुल हो रहा है। देह का जन्म हुआ है, अत इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। इसी कारण देह का महत्त्व आत्मा की महिमा के तुल्य नही है। जो इस तथ्य को जानता है, वही यथार्थ में पण्डित है, क्योंकि देह की किसी भी अवस्था में उसके लिये शोक का कोई कारण नही हो सकता।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

अनुवाद

न तो ऐसा ही है कि किसी काल मे मै नही था, तू नही था अथवा ये सब राजा नही थे और न ही ऐसा है कि इससे आगे हम सब नही रहेगे।।१२।।

तात्पर्य

वेद , कठ एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों मे कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण जीव को उसके कर्म तथा कर्मफल के अनुरूप विभिन्न योनियॉ प्रदान करते हुए असंख्य जीवो का परिपालन कर रहे है। वे अंश-रूप से जीवमात्र के हृदय में स्थित है। उन परमेश्वर श्रीकृष्ण का बाहर-भीतर सर्वत्र दर्शन करने वाले सन्तजन ही यथार्थ मे पूर्ण एव शाश्वती शान्ति का आस्वादन करते है।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।

(कठ० २ २ १३)

श्रीभगवान् ने अर्जुन के हृदय मे जिस वैदिक सत्य का सचार किया, वही ससार के उन सब व्यक्तियो को प्रदान किया जाता है, जो महापण्डित का रूप तो धारण किए हुए है, परन्तु यथार्थ मे अल्पज्ञ ही है। श्रीभगवान् स्पष्ट कह रहे हैं कि स्वय उनका, अर्जुन का तथा युद्ध भूमि मे एकत्र हुए सब राजाओं का अपना-अपना शाश्वत् निजी स्वरूप है, जीवात्माओं की बद्ध एव मुक्त, दोनों ही अवस्थाओं मे वे उन सबके भर्ता है। भगवान् परम पुरुष स्वरूप है तथा उनके नित्य पार्षद अर्जुन का और वहॉ एकत्रित हुए सब राजाओ का भी अपना-अपना शाश्वत् स्वरूप है। ऐसा नही कि पूर्व

तो उनका अपना-अपना अलग स्वरूप नहीं था, अथवा आगे नित्य नहीं रहेगा। उनका निजी स्वरूप पूर्व में भी था तथा भविष्य में भी निरन्तर रहेगा। इसलिए किसी के लिए भी शोक का कोई युक्तिसगत हेतु नहीं है।

मायावादियों का कहना है कि मायावरण के कारण पृथक् हुआ जीवात्मा मुक्ति के उपरान्त निर्विशेष ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त कर अपना भिन्न स्वरूप खो बैठता है। परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने यहाँ इस मत का खण्डन किया है। यहाँ इस मत का भी खण्डन है कि हम बद्धावस्था में अपने भिन्न-स्वरूप की कल्पना मात्र कर लेते है। इस श्लोक मे श्रीकृष्ण का स्पष्ट वक्तव्य है कि उपनिषदों के अनुसार श्रीभगवान् तथा जीवात्माओं के अपने-अपने स्वरूप भविष्य में भी नित्य विद्यमान रहेंगे। श्रीकृष्ण का यह कथन प्रामाणिक है, क्योंकि वे माया के आधीन नहीं हो सकते। यदि जीव और भगवान् से स्वरूप में द्वैत सत्य नही होता तो भगवान् श्रीकृष्ण उसे इतना महत्त्व नहीं देते। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है भविष्य में भी स्वरूप-भेद बना रहेगा। मायावादी तर्क कर सकते है कि श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया स्वरूप-द्वैत आत्मा में नही है, अपितु प्राकृत है। परन्तु यदि स्वरूप-भेद को प्राकृत मान लिया जाय तो श्रीकृष्ण के स्वरूप का वैशिष्ट्य ही क्या रहेगा? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि पूर्व मे उनका अपना विशिष्ट स्वरूप था और भविष्य मे भी सदा रहेगा। उन्होने अपने निजी स्वरूप का विविध प्रकार मे वर्णन किया है और निर्विशेष ब्रह्म को अपने आधीन घोषित किया है। श्रीकृष्ण का दिव्य निजी स्वरूप शाश्वत् है। यदि उन्हे व्यष्टि-बुद्धि से युक्त साधारण बद्धजीव समझा जाय तो उनकी भगवद्गीता का प्रमाणिक शास्त्र के रूप मे कुछ भी महत्त्व शेष नही रह जायगा। चार प्रकार के मानवीय दोषो वाला साधारण व्यक्ति श्रवणीय तत्त्व की शिक्षा देने के योग्य नही हो सकता। गीता ऐसे साहित्य की अपेक्षा परम उत्कृष्ट है। संसार की कोई भी पुस्तक भगवद्गीता की तुलना नही कर सकती। श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानने पर गीता का यह सम्पूर्ण माहात्म्य विलुप्त हो जाता है। मायावादी तर्क करते हैं कि इस श्लोक में वर्णित द्वैत कृत्रिम है, उसका सम्बन्ध केवल देह से है। किन्तु इस श्लोक से पूर्व ही देहात्मवाद को तिरस्कृत किया जा चुका है। जीवों की देहात्मबुद्धि की निन्दा करके फिर श्रीकृष्ण के लिए देहात्मबुद्धि पर आधारित रुढ़िगत वक्तव्य का प्रतिपादन करना किस प्रकार सम्भव था? अतएव यह सिद्ध होता है तत्त्व के आधार पर भगवान् और जीव में स्वरूप-भेद (द्वैत) नित्य बना रहता है। श्रीरामानुज आदि सभी महान् वैष्णव आचार्यों ने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। गीता में भी अनेक स्थलों पर उल्लेख है कि यह स्वरूप-ज्ञान केवल भगवद्भक्तों को हो सकता है। जो व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण से द्वेष करते हैं, उनका

इस महान् ग्रन्थ में कोई अधिकृत प्रवेश नहीं हो सकता। गीतोपदेश के अभक्तों की प्रवृत्ति मधुपात्र पर मँडराते मधुकरों के समान है। पात्र को खोले बिना मधु का आस्वादन नहीं किया जा सकता। इसी भाँति गीता के मर्म का ज्ञान भक्तों को ही हो सकता है; अन्य कोई गीतामृत का रस नहीं ले सकता, जैसा कि चौथे अध्याय में स्पष्ट किया है। श्रीभगवान् की सत्ता से द्वेष करने वाले तो गीता का स्पर्श तक नही कर सकते। अतएव गीता की मायावादी व्याख्या समग्र सत्य की परम प्रातिकारक व्याख्या है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मायावादियों द्वारा रचित भाष्यों के पठन-पाठन का निषेध करते हुए चेतावनी दी है कि जो मायावादी असद्-दर्शन को ग्रहण कर लेता है, वह गीता के सच्चे रहस्य-ज्ञान को हृदयंगम करने की सम्पूर्ण सामर्थ्य खो बैठता है। यदि स्वरूप-भेद (द्वैत) का सम्बन्ध अनुभवगम्य ब्रह्माण्ड से ही होता, तो श्रीभगवान् के लिए स्वयं गीतोपदेश करने का कोई प्रयोजन नहीं था। जीवात्मा तथा श्रीभगवान् में द्वैत शाश्वत् सत्य है और उपरोक्त कथन के अनुसार वेदों में इसकी पुष्टि है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

अनुवाद

जिस प्रकार बद्धजीव को इस देह में क्रम से कौमार, यौवन तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी भाँति मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूपज्ञानी धीर पुरुष इससे मोहित नहीं होता।।१३।।

तात्पर्य

प्रत्येक जीवात्मा का अपना निजी स्वरूप है। उसके देह में नित्य-निरन्तर परिवर्तन होता रहता है— क्रमशः कौमार, यौवन तथा जरा की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु इन सब प्रकार की अवस्थाओं में आत्मा स्वयं परिवर्तनरहित (अनामय) रहता है। अन्त में, देहान्त हो जाने पर यह जीवात्मा देहान्तर करता है, अन्य देह में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार अगले जन्म में भी आत्मा को प्राकृत अथवा अप्राकृत, किसी न किसी देह की प्राप्ति अवश्य होगी, यह निश्चित है। इसलिए भीष्म-द्रोण की सम्भावित मृत्यु के लिए अर्जुन के शोक का कोई भी कारण नहीं। वे जीर्ण देह को त्याग कर नूतन देह को धारण करने से नवशक्ति युक्त हो जायेंगे, इस विचार से उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। देहान्तर कर्मानुसार विविध सुख-दुःख भोगने का निमित्त सिद्ध होता है। महात्मा भीष्म तथा द्रोण को अगले जन्म में भगवद्धाम की प्राप्ति अथवा कम से कम स्वर्गादि श्रेष्ठ भौतिक सुख की उपलब्धि तो अवश्य ही होगी। इन में से किसी

भी अवस्था के लिए शोक का कोई कारण नही हो सकता।

जीवात्मा, परमात्मा तथा परा-अपरा प्रकृति के स्वरूप को पूर्ण रूप से जानने वाला **धीर** कहलाता है। ऐसा पुरुष देहान्तर से व्याकुल नहीं होता। मायावादियों का एकात्मवाद मान्य नही है, क्योंकि आत्मतत्त्व को पृथक् अंशों मे विभक्त नहीं किया जा सकता। यदि यह मान लिया जाय कि एक परमात्मा ही नाना जीवों के रूप मे विभक्त हो गये हैं, तो वे परिवर्तनशील सिद्ध होते हैं, जो सर्वथा सिद्धान्तविरुद्ध है।

गीता का प्रमाण है कि जीव परतत्त्व के सनातन भिन्न-अश हैं। अपरा प्रकृति (माया) में पतनशील होने से वे 'क्षर' कहलाते हैं। ये भिन्न-अंश नित्य भिन्न रहते हैं, मुक्ति हो जाने पर भी जीवात्मा परमात्मा से भिन्न-स्वरूप रहते हैं। किन्तु साथ ही, मुक्त होने पर श्रीभगवान् के सान्निध्य में वे सच्चिदानन्दमय जीवन का रसास्वादन करते हैं। प्रत्येक जीव-देह में जीवात्मा के अतिरिक्त परमात्मा के अस्तित्त्व को प्रतिबिम्ब के उदाहरण से समझा जा सकता है। जल में आकाश के प्रतिबिम्बित होने पर सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रों की भी उसमें छाया पड़ती है। जीवात्मा तारो के समान हैं, जबकि परमेश्वर सूर्य अथवा चन्द्र के तुल्य हैं। अर्जुन भिन्न-अश जीवात्मा का प्रतीक है और परमेश्वर हैं स्वय श्रीकृष्ण। ये दोनों एक स्तर पर नहीं हैं जैसा चौथे अध्याय के प्रारम्भ मे कहा गया है। यदि यह मान लिया जाय कि अर्जुन श्रीकृष्ण के समकक्ष है, अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से श्रेष्ठ नही हैं, तो गुरू-शिष्य के रूप में उनका सम्बन्ध निरर्थक हो जायगा। यदि दोनो माया-मोहित हैं तो एक के द्वारा दूसरे का गुरू बनकर उसे शिक्षा देना सर्वथा अप्रयोजनीय होगा, क्योकि जो स्वय मायाबद्ध है, उसका उपदेश प्रामाणिक नही हो सकता। अस्तु, वस्तुस्थिति से यह निर्णय होता है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और माया-समोहित स्मृतिलुप्त जीवात्मा अर्जुन से सदा अति श्रेष्ठ है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

अनुवाद

हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाली सुख-दुःख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के आने जाने के समान ही अनित्य और क्षणभगुर है। इसलिए हे अर्जुन। उनको विचलित हुए बिना सहने का अभ्यास कर।।१४।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

अनुवाद

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! जो सुख-दुःख को समान समझकर इन दोनों से व्याकुल नहीं होता, वह धीर पुरुष निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है।।१५।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

अनुवाद

असत् का तो चिरस्थायी अस्तित्त्व नहीं होता तथा सत् का कभी अन्त नही होता। इस प्रकार ज्ञानियो ने इन दोनों के तत्त्व का निर्णय किया है।।१६।।

तात्पर्य

देह परिवर्तनशील होने से चिरस्थायी नही है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान भी स्वीकार करता है कि विभिन्न कोशिकाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण देह प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण यह वृद्धि और वृद्धावस्था को प्राप्त होती है। किन्तु देह तथा मन में परिवर्तन होने पर भी आत्मा नित्य अव्यय रहता है। यही जड प्रकृति और आत्मा का भेद है। स्वभावत देह सदा परिवर्तनशील है और आत्मा सनातन। 'निर्विशेष' और 'सविशेष' आदि सब प्रकार के तत्त्वदर्शियो ने इस सिद्धान्त को माना है। 'विष्णुपुराण' मे उल्लेख है कि श्रीविष्णु और उनके सब लोकों की स्वयप्रकाश चिन्मय सत्ता है—**ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः।** **सत्** शब्द आत्मा का और **असत्** जड प्रकृति का वाचक है। सभी ज्ञानीजन इसमे एकमत है।

यहाँ से अज्ञान-मोहित जीवो के कल्याणार्थ श्रीभगवान् का मगलमय सदुपदेश प्रारम्भ होता है। अज्ञान-अपहरण से आराधक एव आराध्य में नित्य सम्बन्ध की पुर्नस्थापना हो जाती है, जिससे भिन्न-अश जीव एव परमेश्वर श्रीकृष्ण में जो भेद है, वह जाना जाता है। परतत्त्व का स्वरूप पूर्ण स्वाध्याय (आत्म-अध्ययन) करने से जाना जा सकता है, क्योकि जीव और परमेश्वर का भेद अश तथा अशी के भेद के समान है—जीव परमेश्वर का भिन्न-अश है। वेदान्तसूत्र तथा श्रीमद्भागवत मे भी परतत्त्व को वस्तुमात्र का मूल स्वीकार किया गया है। इनका अनुभव परा और अपरा प्रकृति के क्रम से होता है। सातवे अध्याय में कहा है कि जीव परा प्रकृति के भिन्न-अश है। शक्तिमान् एव शक्ति में अभेद होते हुए भी शक्तिमान् परतत्त्व है, जबकि शक्ति अर्थात् प्रकृति उसकी वशवर्तिनी है। अतएव सेवक और शिष्य के जैसे जीवात्मा नित्य परमेश्वर श्रीकृष्ण के आधीन रहते हैं। अज्ञानावस्था मे इस शुद्ध ज्ञान को ग्रहण नही किया जा सकता। अत अज्ञान का नाश कर जीवमात्र को सदा के लिए

प्रबुद्ध कर देने के लिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भगवद्‌गीता रूपी शिक्षामृत का परिवर्षण कर रहे है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

अनुवाद

अविनाशी तो उसको जान, जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस अव्यय आत्मा का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।।१७।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे सम्पूर्ण देह मे व्याप्त आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का अधिक स्पष्ट वर्णन है। यह सत्य सभी के अनुभव मे आता है कि सम्पूर्ण देह में एक ही चैतन्य तत्त्व व्याप्त है। सम्पूर्ण देह के अथवा किसी एक शरीरांग के सुख-दु.ख का बोध जीवमात्र को होता रहता है। परन्तु देह में चैतन्य की यह व्याप्ति व्यष्टि-शरीर तक सीमित है। किसी एक प्राणी के देहगत सुख-दु.ख का बोध अन्य को नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक देह मे एक-एक आत्मा आबद्ध है, जिसका अनुभव व्यष्टि-चेतन रूप में हुआ करता है। इस आत्मा का माप केश के अग्रभाग के १०,००० वें भाग के बराबर कहा गया है। **श्वेताश्वतर उपनिषद्** मे इस सत्य का प्रमाण है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।

"आत्मा का माप केश की नोक के सौवें भाग के शतांश के बराबर है।" (श्वे० ५९) इसी भाँति, श्रीमद्‌भागवत मे भी उल्लेख है

केशाग्रशतभागस्य शतांशः सदृशात्मकः।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः।।

"विस्तार में केश की नोक के १०,००० वें अंश के तुल्य असंख्य आत्मकण है।"

इस प्रकार चिन्मय आत्मकण प्राकृत परमाणु से भी सूक्ष्म विस्तार वाला है। साथ ही, ऐसे असंख्य आत्मकण हैं। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्म-स्फुलिंग प्राकृत देह का प्रधान आधार है, औषधि के क्रियाशील तत्त्व के समान इसका प्रभाव भी सम्पूर्ण देह में व्याप्त रहता है। आत्मा का यह प्रभाव देह में चेतना के रूप में अनुभूत होता है यही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। साधारण बुद्धि वाला भी जानता है कि

चेतना-शून्य प्राकृत देह मृत हो जाती है; किसी भी प्राकृत उपचार से उसमें चेतना का फिर संचार नहीं किया जा सकता। यह प्रत्यक्ष है कि चेतना का कारण कोई प्राकृत सम्मिश्रण नही है, अपितु आत्मा है। **मुण्डकोपनिषद्** में आत्मा के स्वरूप का अधिक वर्णन है:

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।।

"अणु विस्तार वाला आत्मा बुद्धियोग से जाना जाता है। पँचप्राणों (प्राण, अपान व्यान, समान तथा उदान) में तैरता हुआ यह अणु-आत्मा हृदय में स्थित रहकर बद्धजीव के सम्पूर्ण शरीर मे अपना प्रभाव विकीर्णित करता है। पँचप्राणों के दोषों से आत्मा के मुक्त होने पर ही उसका दिव्य स्वरूप प्रकट होता है।" (मुण्ड० ३.१.९)

हठयोग का प्रयोजन विविध आसनों के द्वारा उन पञ्चप्राणों का निग्रह करना है, जिनसे शुद्धस्वरूप आत्मा घिरा हुआ है। यह साधन लौकिक लाभ के लिए नहीं, भव-परिवेश से अणु-आत्मा की मुक्ति के लिए किया जाता है।

इस प्रकार, अणु-आत्मा का चिन्मय स्वरूप सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः सुधिजनों को इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त है। अतएव जो अणु-आत्मा को सर्वव्यापक विष्णुतत्त्व कहता है, वह अवश्य उन्मत्त है।

अणु-आत्मा का प्रभाव किसी एक देह मे ही व्याप्त रहता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार, यह अणु-आत्मतत्त्व सब जीवों के हृदय में स्थित है। ससार के वैज्ञानिको के लिए यह सर्वथा अप्रमेय है। इसी कारण उनमें से कुछ अपनी मूर्खता का परिचय देते हुए आत्मा के स्वरूप का निराकरण तक करने का दुस्साहस कर बैठते है। परमात्मा के साथ अणु-जीवात्मा भी निश्चित रूप से देह के हृद्देश मे विद्यमान है। शरीर की क्रिया-शक्ति का यही उद्गम-स्थान है। फेफडो से आक्सीजन का संवहन करने वाले कोश आत्मा से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। इस स्थान से आत्मा के हट जाने पर संलयन के कारण रुधिर-क्रिया का निवर्तन हो जाता है। चिकित्सा विज्ञान रक्तकोशों का महत्त्व तो स्वीकार करता है, पर वह यह जान पाने मे समर्थ नही है कि उन कोशो का शक्ति-स्रोत आत्मा है। तथापि, चिकित्सा विज्ञान इतना तो स्वीकार करता ही है कि सब शारीरिक शक्तियो का केन्द्र हृदय है।

परमात्मा के ये अणु-अंश सूर्यज्योति के परमाणुओ के तुल्य है। सूर्यज्योति मे संख्यातीत जाज्वल्यमान् परमाणु रहते है। इसी भाँति परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश उनकी प्रभा नामक परा प्रकृति के अणु-अश हैं। वैदिक ज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान,

दोनों देह में आत्मा के अस्तित्व का निराकरण नहीं करते। भगवद्गीता में तो भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं आत्मविद्या का विशद प्रतिपादन किया है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अनुवाद

इस अविनाशी, अप्रमेय और नित्य रहने वाले आत्मा की प्राकृत देह ही नाशवान् है। अतएव हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।।१८।।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

अनुवाद

जो इस आत्मा को मारने वाला मानता है, और जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनो ही अज्ञानी है। यथार्थ ज्ञानी जानता है कि यह आत्मा न तो मारता है और न ही कभी मारा जाता है।।१९।।

तात्पर्य

देह पर किसी घातक शस्त्र का आघात होने पर भी देह मे बद्ध जीवात्मा की मृत्यु नही होती। जैसा पूर्व श्लोको में सिद्ध किया जा चुका है, जीवात्मा इतना सूक्ष्म है कि किसी भी प्राकृत शस्त्र से उसका वध नही किया जा सकता। अपने अप्राकृत स्वरूप के कारण जीवात्मा अवध्य है। मृत्यु तो केवल देह की ही होती है। किन्तु इसका तात्पर्य देहहिंसा को प्रोत्साहित करना नही है। वैदिक निर्देश है, **माहिंस्यात् सर्वभूतानि**, 'किसी भी जीव की हिंसा कभी न करे।' आत्मा अवध्य है, इसका यह अर्थ नही कि पशुहिसा की जाय; किसी भी जीवदेह की अनाधिकार हत्या करना निद्य है एव राज्य और भगवत्-विधान के अनुसार दण्डनीय भी है। परन्तु अर्जुन को तो वध में धर्म के उद्देश्य से नियुक्त किया जा रहा है, स्वच्छन्दतापूर्वक नही।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

अनुवाद

आत्मा किसी भी काल में न तो जन्मता है और न मरता ही है। तथा एक बार होकर यह कभी नष्ट भी नहीं होता। यह नित्य, अजन्मा, शाश्वत् और पुरातन है। देह के मारे जाने पर भी आत्मा नहीं मारा जाता।।२०।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

अनुवाद

हे पार्थ! जो आत्मा को नित्य अविनाशी, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह किस प्रकार किसी को मार सकता है अथवा मरवा सकता है।।२१।।

तात्पर्य

प्रत्येक पदार्थ की अपनी समुचित उपयोगिता होती है। पूर्ण ज्ञानी की यह विशेषता है कि वह देशकाल के अनुसार पदार्थों का यथोचित उपयोग करना जानता है। हिंसा की भी उपयुक्तता है, परन्तु उसका उचित उपयोग ज्ञानी पर निर्भर करता है। हत्यारे को प्राणदण्ड देने वाले न्यायाधीश को दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न्याय-संहिता के अनुसार ही वह किसी की हिंसा का विधान करता है। मानवमात्र के धर्म-शास्त्र 'मनुसंहिता' में कथन है कि हत्यारे को प्राणदण्ड देना उचित है, जिससे पुनर्जन्म में वह उस महान् पापकर्म का फल भोगने को बाध्य न हो। हत्यारे को प्राणदण्ड की राजाज्ञा वास्तव में उसके लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है। इसी भाँति, जब श्रीकृष्ण युद्ध करने की आज्ञा देते हैं तो यह निश्चित समझना चाहिए कि इस प्रसंग में हिंसा का उद्देश्य परम न्याय के लिए है। अतः अर्जुन को यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण के लिए युद्ध में हुई हिंसा वास्तव में हिंसा नहीं है और इस ज्ञान से युक्त होकर भगवान् की इस आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए। आत्मा सर्वथा अवध्य है। इस कारण न्याय के हेतु हिंसा की जा सकती है। शल्यक्रिया का प्रयोजन रोगी को स्वास्थ्य-लाभ कराना है, मारना नहीं। श्रीकृष्ण की शिक्षानुसार अर्जुन की युद्धक्रिया पूर्ण ज्ञान से युक्त है। इसलिए उससे कुछ भी पापफल नहीं बन सकता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

अनुवाद

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने जीर्ण शरीरों को त्याग कर नूतन देह ग्रहण करता है।।२२।।

तात्पर्य

अणु-जीवात्मा देहान्तर करता है—यह एक स्वीकृत सत्य है। हृदय से शक्ति का उद्गम किस प्रकार होता है, यह न बता सकने पर भी आधुनिक वैज्ञानिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते। पर वे तक यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि शैशव से कौमार, कौमार से यौवन तथा यौवन से जरा के रूप में देह में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अन्त में वृद्धावस्था के अनन्तर देहान्तर हो जाता है। इसका वर्णन पूर्व श्लोक में किया जा चुका है।

अणु-आत्मा परमात्मा की कृपा से ही देहान्तर करता है। जिस प्रकार सखा सखा की इच्छा की पूर्ति करता है, उसी भाँति परमात्मा भी जीवात्मा की अभीप्सा पूर्ण करते है। वेद, 'मुण्डक' तथा 'श्वेताश्वतर' उपनिषदों में जीवात्मा और परमात्मा को एक वृक्ष पर बैठे हुए दो मित्र पक्षियो की उपमा दी गई है। उनमें से एक (अणु-जीवात्मा) वृक्ष के फलो को खा रहा है, जबकि दूसरा पक्षी (श्रीकृष्ण) केवल अपने उस सखा को देखता रहता है। चिद्गुणो मे समान होते हुए भी एक पक्षी तो विषय-वृक्ष के फलों से मोहित हो जाता है, जबकि दूसरा उस सखा की क्रियाओं का साक्षीमात्र है। श्रीकृष्ण साक्षी पक्षी हैं और अर्जुन फल-भोक्ता पक्षी है। सखा होने पर भी उनमे से एक स्वामी है और दूसरा सेवक। अणु-जीवात्मा का इस सम्बन्ध को भुला देना ही उसके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाने अर्थात् देहान्तर में कारण है। प्राकृत देहरूपी वृक्ष पर जीवात्मा जीवन के लिए घोर सघर्ष कर रहा है। किन्तु दूसरे पक्षी को परम गुरु स्वीकार करते ही, अर्थात् अर्जुन के समान शिक्षा प्राप्ति के लिए स्वेच्छापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होते ही परतन्त्र पक्षी (जीव) सम्पूर्ण शोक से तुरन्त मुक्त हो सकता है। कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों मे इसकी भी सपुष्टि है:

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।

एक वृक्ष पर बैठे दोनो पक्षियो मे से जो पक्षी वृक्ष के फल का भोक्ता है, वह उद्वेग-विषाद से पूर्ण हो रहा है। यदि वह किसी प्रकार अपने सखा श्रीभगवान् के सम्मुख होकर उनकी महिमा को धारण कर ले तो अविलम्ब शोकमुक्त हो

जाय। अर्जुन भी इस समय अपने नित्य सखा भगवान श्रीकृष्ण के सम्मुख होकर उनसे भगवद्गीता का ज्ञान प्राप्त कर रहा है। इस भाँति स्वयं श्रीकृष्ण से श्रवण करके उनके परम माहात्म्य को हृदयंगम करने से वह निस्सन्देह शोकमुक्त हो जायगा।

श्रीभगवान् ने इस श्लोक में अर्जुन को परामर्श दिया है कि वह अपने वृद्ध पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण के देहान्तर करने पर शोक न करे। उनका तर्क है कि धर्मयुद्ध में उनके कलेवरों का वध करके उन्हें नाना प्रकार के देहजन्य पापों से मुक्त कर देने में उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। यज्ञाहुति अथवा धर्मयुद्ध में प्राण-विसर्जन करने वाला सकल देहजनित पापों से अविलम्ब मुक्त हो जाता है और उच्चलोक प्राप्त करता है। इस कारण अर्जुन के शोक का कोई भी युक्तिसम्मत हेतु नही है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

अनुवाद

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नही कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती।।२३।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

अनुवाद

यह आत्मा अच्छेद्य है, अक्लेद्य, है, अदाह्य और अशोष्य है। यह नित्य, सर्वव्यापक, अविकारी, स्थिर रहने वाला तथा सनातन है।।२४।।

अव्यक्तोऽय मचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

अनुवाद

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकारी कहा जाता है। इसे ऐसा जानकर तुझे देह के लिए शोक नहीं करना चाहिए।।२५।।

तात्पर्य

पूर्ववर्णन के अनुसार, आत्मा का विस्तार हमारी लौकिक गणना के लिए इतना सूक्ष्म है कि सबसे शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा भी उसे देखा नही जा सकता। वह वस्तुतः अदृश्य ही है। अतः श्रुतिप्रमाण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोग के द्वारा उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा, सकता। हमें यह सत्य स्वीकार करना

होगा कि आत्मा के अस्तित्व के ज्ञान का कोई अन्य स्रोत नहीं है, यद्यपि यह एक अनुभवगम्य सत्य है। ऐसे अनेक तथ्य हैं जिन्हें उच्च प्रमाण के आधार पर ही स्वीकार करना पड़ता है। पिता का अस्तित्व माता के प्रमाण पर आधारित है; उसका निराकरण कोई नहीं कर सकता। मातृ-प्रमाण के अतिरिक्त पिता को जानने का कोई अन्य साधन नहीं है। इसी प्रकार आत्मज्ञान केवल वेदाध्ययन से होता है। भाव यह है कि मानवीय प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए आत्मा सर्वथा अचिन्त्य है। हमें वेद के इस सिद्धात को भी स्वीकार करना होगा कि आत्मा चेतना भी है और चैतन्य भी। शरीर के धर्म के विपरीत, आत्मा नित्य अविकारी है; उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है कि अनन्त विभु-आत्मा की तुलना में आत्मा सदा अणु-तुल्य रहता है। विभु-आत्मा अनन्त है, जबकि जीवात्मा अणुतम है। आत्मतत्त्व में विकार नहीं होता, इसलिए अणु-जीवात्मा और अनन्त-आत्मा (भगवान्) का यह सम्बन्ध शाश्वत् है, अर्थात् जीव श्रीभगवान् के तुल्य कभी नही हो सकता। आत्मा का पृथक् शाश्वत् स्वरूप है, इस सत्य को असदिग्ध रूप से स्थापित करने के लिए वेद मे इस सिद्धांत की नाना रूपों में पुनरुक्ति की गयी है। किसी-किसी तत्त्व के निर्दोष और पूर्ण ज्ञान के लिए यह आवश्यक होता है कि उसकी पुनरावृत्ति की जाय।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

अनुवाद

यदि तू इस आत्मा को नित्य जन्मने और नित्य मरने वाला भी माने, तो भी हे महाबाहु! तेरे लिए शोक का कोई कारण नही है।।२६।।

तात्पर्य

मानव समाज में दार्शनिकों का एक ऐसा दल सदा रहा है, जो बौद्धो के ही समान यह नही मानता कि देह से परे आत्मा का कोई पृथक् स्वरूप भी है। प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का प्रवचन किया, उस समय भी इस कोटि के दार्शनिक विद्यमान थे। उन्हें 'लोकायतिक' और 'वैभाषिक' कहा जाता था। इन दार्शनिकों के मत मे प्राकृत तत्त्वों के सम्मिश्रण की एक विशेष परिपक्व अवस्था में जीवन-लक्षण (चेतना) अथवा आत्मा की उत्पत्ति होती है। आधुनिक वैज्ञानिक एवं दार्शनिकों की भी प्राय यही विचारधारा है। उनके अनुसार, शरीर की रचना केवल स्थूल तत्त्वों से हुई है तथा एक विशेष अवस्था में स्थूल तथा रासायनिक तत्त्वों की अन्त· क्रिया से जीवन-लक्षण प्रकट होते हैं। मानवीय सरचना-विज्ञान इसी

मत पर आधारित है। आजकल पाश्चात्य जगत् मे लोकप्रिय हो रहे अनेक प्रकार के कपट-धर्म भी इस मत का और शून्यवाद को मानने वाले अभक्त बौद्धो का अनुसरण कर रहे है।

यदि वैभाषिक मत के अनुसार अर्जुन का आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं है, तो भी शोक का कोई हेतु नहीं बनता। रसायनो की थोड़ी सी मात्रा के लिए शोक से विह्वल होकर कोई अपने कर्तव्य-कर्म का त्याग नहीं करता। आधुनिक विज्ञान तथा युद्ध मे तो शत्रु-विजय के लिए रसायनों को बड़ी मात्रा में नष्ट किया जाता है। वैभाषिक दर्शन का कहना है कि शरीर का क्षय होने के साथ ही तथाकथित आत्मा भी नष्ट हो जाता है। अतएव अर्जुन वैदिक सिद्धान्त के अनुसार अणु-आत्मा के अस्तित्व को माने अथवा न माने, दोनो ही स्थितियों में उसके लिये शोक का कोई युक्तिसंगत कारण नही है। वैभाषिक मत के अनुसार प्रतिक्षण अनेक आत्माओ की जड़ प्रकृति से उत्पत्ति होती रहती है और अनेक का निरन्तर नाश भी होता रहता है, इसलिए ऐसे प्रसंग में शोक करना सर्वथा अप्रयोजनीय है। पितामह एव गुरु के वध से बनने वाले पाप की आशका से भयभीत होना भी अर्जुन के लिए हेतुसगत नही, क्योंकि इस दर्शन के अनुसार आत्मा का पुनर्जन्म तो होता ही नही। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को व्यगपूर्वक **महाबाहु** सम्बोधित किया, क्योकि इस वैभाषिक मत को, जो वैदिक ज्ञान के बिल्कुल प्रतिकूल है, वे स्वीकार नही करते। अर्जुन क्षत्रिय है, इसलिए वैदिक सस्कृति का अनुयायी है। अतएव वैदिक सिद्धातो का अनुसरण करते रहना ही उसके लिए योग्य होगा।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

अनुवाद

जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का पुर्नजन्म भी निश्चित है। अतएव इस अनिवार्य स्वधर्म-पालन मे तू शोक करने के योग्य नही है।।२७।।

तात्पर्य

जीवमात्र अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करता है। इस कारण एक कर्म-अवधि समाप्त हो जाने पर मरकर अगली के लिए पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार मुक्ति के बिना जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलता ही रहता है। परन्तु जन्म-मृत्यु की नित्यता का यह अर्थ नही कि अप्रयोजनीय हत्या, वध तथा युद्ध आदि हिंसा-कर्म किए जायें। साथ ही, मानव समाज में नियम तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिये हिसा और

युद्ध करना कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है।

भगवत्-इच्छावश कुरुक्षेत्र का युद्ध अवश्यंभावी था और सत्य के लिये युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म भी है। अत: स्वधर्माचरण में सम्भावित स्वजन-वध से भय अथवा शोक उसे क्यो हो? अर्जुन विधि-विधान के पालन में प्रमाद करने के योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर वह उसी पाप से लिप्त हो जावगा, जिसकी आशंकामात्र से उसे भय का अनुभव हो रहा है। परिस्थितियों से स्पष्ट है कि स्वधर्माचरण से विमुख हो जाने पर भी स्वजनों की मृत्यु का परिहार तो वह कर नहीं सकेगा अपितु विकर्म-दोष से अध:पतन को ही प्राप्त होगा।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ।।२८।।

अनुवाद

सभी प्राणी जन्म से पूर्व अव्यक्त रहते हैं, और निधन होने पर फिर से अव्यक्त हो जाते है। केवल मध्य मे ही व्यक्त होते है, फिर इसमें शोक का क्या कारण है?।।२८।।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

अनुवाद

कोई महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है, वैसे ही दूसरा कोई इसके तत्त्व का आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है; कोई-कोई इसका आश्चर्य की भाँति श्रवण करता है और कोई-कोई तो श्रवण करने पर भी इसे नहीं जानता।।२९।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन! देह मे निवास करने वाला आत्मा कभी नहीं मारा जा सकता। इसलिये किसी भी प्राणी के लिए तू शोक करने के योग्य नहीं है।।३०।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

अनुवाद

अपने क्षत्रिय धर्म पर विचार करके भी तू यह जान ले कि तेरे लिए धर्ममय युद्ध से श्रेष्ठ दूसरा कोई कल्याण का साधन नहीं है। अतः युद्ध रूपी स्वधर्म में संकोच करने का कोई कारण नहीं है।।३१।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

अनुवाद

हे पार्थ! वे क्षत्रिय सुखी हैं, जिन्हें इस प्रकार के युद्ध का अवसर अपने आप प्राप्त होता है, क्योंकि यह तो स्वर्ग के खुले हुए द्वार के समान है।।३२।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

अनुवाद

इस पर भी यदि तू इस धर्ममय युद्ध को नही करेगा तो निश्चित् रूप से स्वधर्म-पालन में प्रमाद करने से होने वाले पाप को प्राप्त होगा और योद्धा के रूप में अपनी कीर्ति भी खो बैठेगा।।३३।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

अनुवाद

सब लोग भी सदा तेरे अपयश का कथन करेगे। सम्मान्य व्यक्ति के लिए तो अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक मन्द होती है।।३४।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

अनुवाद

तेरे नाम और यश का सम्मान करने वाले महारथी भी तुझे भयवश ही युद्ध से उपरत हुआ मानेंगे। इस भाँति तू कायर समझा जायगा।।३५।।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

अनुवाद

तेरे शत्रु भी बहुत से अपशब्द कहकर तेरी सामर्थ्य का उपहास करेंगे। इससे

अधिक दुःख तेरे लिए फिर और क्या होगा? ।।३६।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।३७।।

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र! यदि तू युद्ध में मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा और यदि जीत गया तो पृथ्वी के साम्राज्य का उपभोग करेगा। इसलिए खड़ा होकर दृढतापूर्वक युद्ध कर।।३७।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

अनुवाद

सुख-दुःख, हानि-लाभ तथा जय-पराजय को समान समझकर निष्काम भाव से युद्ध कर। ऐसा करने पर तू पाप से कलुषित नहीं होगा।।३८।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट रूप से युद्ध के लिये ही, अर्थात् निष्काम भाव से युद्ध करने की आज्ञा दे रहे है, क्योकि उनकी ऐसी ही इच्छा है। कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में सुख-दु ख, हानि-लाभ जय-पराजय का विचार नही किया जाता। प्रत्येक क्रिया को श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए करना बुद्धियोग कहलाता है। इस प्रकार से प्राकृत कर्म करने पर भी बन्धन नही होता। जो निजेन्द्रियतृप्ति के लिए सात्त्विक अथवा राजस कर्म करता है, उसी को शुभ-अशुभ कर्मफल मिलता है, परन्तु जो पूर्ण रूप से श्रीकृष्णभावनाभावित क्रियाओं के ही शरणागत हो गया है, वह भक्त साधारण जीवन-पद्धति के समान किसी का भी ऋणी अथवा किंकर नही रहता। शास्त्र-वचन (भागवत ११.५.४१) है

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।

''अन्य सब कर्तव्यो को त्याग कर जो मनुष्य अनन्यभाव से मुक्तिदाता श्रीकृष्ण के ही शरणागत हो जाता है, उसका देवताओ, अन्य सब प्राणियो, स्वजनो, मानव जाति और पितरो के प्रति कुछ भी कर्तव्य अथवा ऋण शेष नही रहता।'' **उपरोक्त श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी तथ्य का संकेत किया है। अगले श्लोकों में इस सिद्धान्त का अधिक विशद वर्णन है।**

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

अनुवाद

यहाँ तक मैंने तेरे लिए सांख्य-दर्शन का वर्णन किया। अब उस बुद्धियोग का श्रवण कर जिससे निष्काम कर्म किया जाता है। हे पार्थ ! इस बुद्धियोग से युक्त होकर कर्म करने पर तू कर्म-बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जायगा।।३९।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

अनुवाद

कृष्णभावना के लिये जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता और न ह्रास ही होता है। इस पथ मे की गई अल्प प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर लेती है।।४०।।

तात्पर्य

अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा को त्यागकर कृष्णभावनाभावित कर्म करना, अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये कर्म करना सर्वश्रेष्ठ दिव्य क्रिया है। यदि ऐसे कर्म को छोटे से रूप मे ही प्रारम्भ किया जाय, तो भी उसमें न तो कोई बाधा आती है और न ही कभी उसका नाश होता है। यह नियम है कि किसी प्राकृत क्रिया को प्रारम्भ करके पूर्ण करना आवश्यक है, अन्यथा सम्पूर्ण प्रयास विफल हो जाता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म की यह विशेषता है कि अपूर्ण रह जाने पर भी उसका चिरस्थायी फल होता है। अत· कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाले की किसी भी दशा मे हानि नही होती ! यदि कृष्णभावनाभावित कर्म केवल एक प्रतिशत ही पूर्ण हुआ हो, तो भी उसका मनातन फल होगा, जिससे पहले किये हुए की आवृत्ति किये बिना, भविष्य मे उत्तरोत्तर आगे उन्नति की जा सकती है। इसके विपरीत, प्राकृत कर्म जब तक शत-प्रतिशत पूर्ण नही हो जाता, तब तक उससे कुछ लाभ नही होता। अजामिल ने कृष्णभावना विषयक साधन का अभ्यास एक अश मे ही किया था, परन्तु मृत्यु समय भगवत्कृपा से उसे पूर्णफल की प्राप्ति हुई। इस सन्दर्भ मे श्रीमद्भागवत मे एक सुन्दर श्लोक है

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।

'विषय भोग को त्याग कर जो कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह यदि कार्य-पूर्ति न कर पाने से पतित भी हो जाय, तो उसे क्या हानि ? इसके विपरीत,

प्राकृत क्रियाओ को पूर्ण करने से क्या लाभ होगा?' (श्रीमद्भागवत १.५.१७) इसी प्रकार लोकोक्ति है, 'अपने सनातन आत्मा को खोकर सम्पूर्ण विश्व को पाने से भी क्या लाभ होगा?'

प्राकृत कार्य तथा उनके फल देह के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म कर्ता को देहान्त के बाद फिर से कृष्णभावनाभावित बना देता है। कम से कम इतना तो निश्चित है कि पुनर्जन्म में उसे विद्वान् ब्राह्मण अथवा धनाढ्यों के कुल मे मनुष्य देह की प्राप्ति होगी, जिससे भगवत्प्राप्ति का अवसर फिर सुलभ हो जायगा। यह कृष्णभावनाभावित कर्म की अनुपम विशेषता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

अनुवाद

इस पथ के अनुगामी निश्चयात्मक बुद्धि से युक्त रहते हैं, उनका एक लक्ष्य होता है। परन्तु हे कुरुनन्दन! अस्थिर मति वालो की बुद्धि तो अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है।।४१।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

अनुवाद

अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन आलकारिक वचनो मे बहुत आसक्त रहते हैं, जिनमे स्वर्ग, उच्चकुल, ऐश्वर्य और भोगो को देने वाले नाना प्रकार के सकामकर्मों का विधान है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलाषा के कारण ही वे ऐसा कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नही है।।४२-४३।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

अनुवाद

जो मनुष्य विषयभोग और लौकिक ऐश्वर्य मे प्रगाढ आसक्ति के कारण इस प्रकार समोहित हो रहे है, उनके चित्त मे भगवद्भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता।।४४।।